श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

खण्ड १०१

[उपनिषद् अर्थ]

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
प्रणीतं प्रभुदत्तेन श्रीभागवतदर्शनम् ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

संशोधित मूल्य २. ० रुपया

प्रथम संस्करण १००० | नवम्बर १९७२ मार्गशीर्ष सं०—२०२९ | मूल्य : २. ००

मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज प्रयाग ।

विषय-सूची

[२०]

हरिरेव जगत् जगदेव हरिः हरितो जगतो नहि भिन्नतनुः ।
इति यस्य मतिः परमार्थगतिः स नरो भवसागरमुद्धरते ॥

छप्पय

हरिकूँ जगमय लखैं, जगत् कूँ हरिमय मानें ।
जीवनि नहिँ अपमान करें सबकूँ सम्मानें ॥
इस्तुति निन्दा त्यागि कृष्णकूँ सरबसु समुझें ।
कथा कीरतन निरत, नहीं जग झंझट उरझें ॥
ऐसे सन्त महान्त हैं, वे भगवत् के रूप हैं ।
भक्ति भवन के भूप हैं, अच्युत अमर अनूप हैं ॥

जगत् भगवान् की क्रीड़ास्थली है, जैसे जिन लोगों को कोई काम नहीं रहता, वे काठ की गोट बनाकर शतरंज खेलते रहते हैं। भगवान् को भी कोई काम नहीं। वे आप्तकाम तथा पूर्णकाम हैं, बैठे ठाले क्या करें, इसीलिये वे चराचर जीवों की छोटी बड़ी विभिन्न आकार की गोटें बनाकर सर्वेश्वरी आदिशक्ति भगवती जगदम्बा के साथ चौपर खेलते रहते हैं। यह जगत् उनके खेलने

---

* जो जगत् को हरिरूप में देखते हैं तथा हरि को जगत् रूप में देखते हैं, जिन सन्तों की ऐसी मति है उन्हीं की परमार्थ पथ में गति है, वे निश्चय ही संसार सागर से उस पार पहुँच जाते हैं।"

का साधन है। चराचर जीव उन्हीं के संकेत पर सब कुछ कर रहे हैं। जो अपने को उन अखिलेश का यन्त्र मानते हैं, वे संसार में सुखी रहते हैं, जो उन अनादि अच्युत आत्माराम परमात्मा को भुलाकर अपने को ही कर्ता-धर्ता-हर्ता विधाता मान बैठते हैं, वे क्लेश के भाजन बन जाते हैं, संसार में सदा दुखी, चिन्तित तथा व्यग्र बने रहते हैं। ये संसारी सम्पूर्ण पदार्थ तो उन सर्वेश्वर के हैं, ये तो यहाँ के यहां रह जायँगे, किसी के साथ नहीं जायँगे। जो जीव अपने को इन पदार्थों का स्वामी मानेंगे, वे पछतायँगे। हाथ मलते हुए रह जायँगे। अतः सब कुछ करते हुए उन परात्-पर प्रभु को न बिसारो। सबको उनकी क्रीड़ा मानों फिर तुम निश्चिन्त हो जाओगे। प्रपञ्च जहाँ का तहाँ ही पड़ा रहता है, प्रपंच से प्राप्त ज्ञान-विज्ञान ही काम आता है।

हाँ, तो वृन्दावन धाम से लौटकर हम पुनः गंगा किनारे अनूपशहर आ गये। अनूपशहर से गंगाजी को पार करके गँवा पहुँचे। तब तक श्रीहरि बाबाजी का बाँध बन चुका था। हमने सर्वप्रथम बाँध के दर्शन किये थे। श्रीहरि बाबाजी के बाँध का भी एक अपना इतिहास है। हम पीछे बता चुके हैं, श्रीहरि बाबाजी का जन्म पंजाब के होशियारपुर जिले के समीप मेंगर-वाल ग्राम में हुआ था। डाक्टरी की पढ़ाई छोड़कर स्वयं संन्यासी हो गये। इनके गुरुदेव श्री स्वामी सच्चिदानन्दजी ने जब इन्हें संन्यासी वेष में देखा, तो कहने लगे—"तू स्वतः ही प्रकाशित हुआ है, इसलिये तेरा नाम स्वतःप्रकाश होगा। ये गंगा किनारे विचरते हुए भैरिया आये,यहाँ से गँवे के रईस लाला कुन्दनलालजी के भतीजे बाबू हीरालालजी के आग्रह पर गँवे आये। गँवे में लाला कुन्दनलालजी के पौत्र किशोरीलालजी के पुत्र रामेश्वरदयाल असाध्य रोग से ग्रस्त हुए। श्रीहरि बाबाजी

स्वामी अच्युत मुनिजी के साथ वहाँ गये, वहाँ हनुमानगढ़ी में इन्हें अँगरेजी में श्री चैतन्य महाप्रभु का श्रीशिशिरकुमार घोष द्वारा लिखित जीवन चरित्र पढ़ने को मिला, वहाँ से इनका जीवन भक्तिमय हो गया और ये हरि-हरि करके कीर्तन करने लगे। तभी से इनका नाम पंजाबी स्वामी, डाक्टर स्वामी से बदलकर हरिबाबा हो गया। जो इसी नाम से सुप्रसिद्ध हुए।

रामेश्वर की बीमारी हटने पर इनकी वहाँ सर्वत्र प्रसिद्धि हो गयी। वृन्दावन में एक स्वामी कृष्णानन्दजी बंगाली रहते थे। वे एम० ए० पास थे, मथुरा में उन्होंने दरिद्राश्रम या कंगाल आश्रम खोल रखा था। जब हम मथुरा में पढ़ते थे, तब उन्हें बाघ के चर्म के जूता पहिने बड़े ठाठ-बाठ से आते जाते देखते थे। उन्होंने बंगाली भक्तों की एक संकीर्तन मण्डली बना रखी थी। वे अपने आश्रम के लिये चन्दा माँगने उस मण्डली को लेकर स्थान-स्थान पर जाया करते थे। वे अपनी मंडली सहित एक बार चन्दा माँगने गँवे भी पहुँचे। हमारे श्रीहरि बाबाजी तो उन दिनों कीर्तन के पीछे पागल ही बने हुए थे। उन्हें बंगालियों का खोल करताल के साथ वह कीर्तन बहुत ही प्रिय लगा और वे उनके साथ नाचते कीर्तन करते घूमने लगे। स्वामी कृष्णानंदजी के लिये चन्दा भी कराया। वे सखीभाव के थे, गौरवर्ण के अत्यन्त ही सुन्दर थे। हमारे श्रीहरि बाबाजी अत्यन्त ही भावुक थे। वे उनसे अत्यधिक स्नेह करने लगे। आशा से अधिक चन्दा मिलने पर वे कई बार आये और श्रीहरि बाबाजी ने उन्हें चंदा कराया। श्रीहरि बाबाजी चाहते थे–वे सदा उनके साथ रहें। श्रीहरि बाबाजी चाहते थे, कोई योग्य व्यक्ति ऐसा हो, जो हमारे संकेत पर नाचे। वे ऐसे प्रभावशाली व्यक्ति की खोज में थे। सखीभाव वाले कृष्णानन्दजी सब प्रकार योग्य थे,

किन्तु उन्हें सब समय अपने आश्रम के लिये द्रव्य की आवश्यकता होती।

जब रामेश्वर अच्छे हो गये तब आगे क्या करना चाहिये इस विषय पर उन्होंने अपने भक्तों से सम्मति की। एक प्रस्ताव तो यह था, कि सवा लाख रुपया इकट्ठा करके स्वामी कृष्णानन्दजी बंगाली के आश्रम को द्रव्य की चिन्ता से मुक्त कर दिया जाय, जिससे स्वामीजी मंडली सहित सदा साथ रहें। दूसरा प्रस्ताव किसी धर्मशाला या आश्रम के जीर्णोद्धार का था, तीसरा प्रस्ताव यह था, कि गंगाजी की बाढ़ आने पर लगभग सात सौ गाँव बाढ़ की चपेट में आ जाते हैं, गंगाजी का एक बाँध बाँधा जाय, जिससे ग्रामीणों का उपकार हो। अन्त का यह तीसरा प्रस्ताव ही सर्व सम्मति से स्वीकृत हुआ। किन्तु बाँध बँधे कैसे? यह कोई गुड़ का पूआ तो था ही नहीं जो उठाया और गप्प कर गये। देखने में कार्य बहुत ही असम्भव जान पड़ता था, किन्तु श्रीहरिबाबा के दृढ़ संकल्प ने, उनकी सच्ची निष्ठा ने, अथक परिश्रम ने तथा सुदृढ़ भगवत् विश्वास ने असम्भव को भी सम्भव बना दिया। इतना बड़ा गंगाजी का बाँध बनकर तैयार हो गया।

बाँध बँध रहा था, तब मैं काशीजी में था। रामेश्वर ने पत्र द्वारा सूचना दी आप आकर बाँध के कार्य में सहयोग दीजिये। किन्तु मैं आ नहीं सका। अब जब आया तब बाँध बन चुका था। उसके सम्बन्ध में अनेक प्रकार की जनता में आख्यायिकायें प्रचलित थीं। उन दिनों श्रीहरिबाबा की कीर्ति सर्वत्र व्याप्त हो चुकी थी, जो जनता जनार्दन की सेवा में सतत संलग्न रहता है, जो दूसरों के सन्ताप से सतत संतापित रहता है, वह तो नर रूप में साक्षात् हरि ही है। संसार में असम्भव कुछ भी नहीं।

दृढ़निष्ठा, सच्चे विश्वास के साथ सब कुछ सम्भव हो जाता है। महाराज पृथु ने अपने विश्वास से ही पृथ्वी का दोहन करके प्राणिमात्र को सुखी बना दिया। महाराज प्रियव्रत ने अपने विश्वास से ही अपने रथ के पहियों से सात समुद्र बना दिये, सगर के साठ सहस्र पुत्रों ने चारों ओर पृथ्वी को खोदकर सागर बना दिया। भगीरथजी अपने विश्वास के बल पर ही हिमालय से समुद्र तक भागीरथी गंगा को ले आये। बानरों ने भगवत् विश्वास से ही समुद्र पर सौ योजन का सेतु बना दिया।

सुनते हैं जिन दिनों बाँध बँध रहा था श्रीहरि बाबाजी लगातार बारह घन्टों तक सिर पर मिट्टी के भरे टोकरे उठा-उठा कर ढोते रहते थे। ग्रामीण लोग कसकर कतने को मिट्टी से भर देते, हाँ, बाबा! उठाओ। और ये उठा उठा कर निरन्तर मिट्टी डालते रहते थे। मूर्ख-पंडित, धनी-निर्धन, पठित-अपठित, बाल-वृद्ध, रोगी-स्वस्थ, स्त्री-पुरुष कोई भी आता बाबा कहते—"बाँध देवता पर मिट्टी डालो!" कोई कहता हमारे पुत्र नहीं, कोई कहता हम पर धन नहीं, कोई कहता हमें कोढ़ का क्षय का रोग है, श्रीहरि बाबा का सबके लिये एक ही उत्तर था—'बाँध पर मिट्टी डालो।' और उस समय ऐसा चमत्कार हुआ जिसने जिस भावना से बाँध पर मिट्टी डाली, उनमें से बहुतों की मनोकामनायें पूरी हो गयीं। बहुत से कोढ़ियों का कोढ़ जाता रहा, बहुत से रोगी निरोग हो गये, बहुतों की नौकरी लग गयी। बहुतों के जिनके पुत्र नहीं थे, पुत्र हो गये। जब बाँध का कार्य आरम्भ हो गया, तब आप चन्दा करने निकले और बात की बात में लाखों रुपयों का चन्दा हो गया। चन्दा के रुपयों से बाँध नहीं बंधा। बाँध तो उन ग्रामीण लोगों की सद्भावना से बना जो श्रीहरिबाबा में श्रद्धा रखते थे और अपने घरों से

रोटी बाँध बाँधकर जाते, दिन भर काम करते और रात्रि में लौटकर घर आ जाते। कैसा चमत्कार हुआ। मैंने बाँध की मरम्मत होते हुए, टूटे बाँध को फिर से बनवाते हुए वे दृश्य स्वयं देखे हैं और स्यात् कुछ टोकरे मिट्टी मैंने स्वयं भी डाली है। लोगों में बाँध के प्रति, बाँध के अधिष्ठातृदेव श्रीहरिबाबा के प्रति कैसी सद्‌निष्ठा थी। फिर तो मैं बाँध के प्रायः सभी उत्सवों में सम्मिलित होता रहता था। श्रीहरिबाबा प्रत्येक पर्व पर उत्सव मनाते। श्रीचैतन्य महाप्रभु की जयन्ती शिवरात्रि से होली पर्यन्त बड़ी धूम धाम से मनाया करते थे। पहिले तो नहीं, पीछे से वे रासलीला के बड़े प्रेमी हो गये थे। प्रत्येक उत्सव पर रास मंडलियाँ आतीं उनके रास होते।

श्रीहरिबाबा किसी के माध्यम से कार्य करना चाहते थे, जो उनके संकेतों को समझकर अक्षरशः उनकी इच्छानुसार कार्य करे। बहुतों को उन्होंने माध्यम बनाया, किन्तु किसी ने पूरा निर्वाह नहीं किया। पहिले स्वामी कृष्णानन्दजी सखी भाव वाले थे, फिर एक स्वामी केवलानन्द को बनाया, कुछ दिन हमारे वृन्दावन के स्वामी रघुनाथदासजी रहे, अन्त में श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज ने पूर्णरीत्या निभाया और उसके अनन्तर श्रीआनन्दमयी माँ ने!

मुझसे वे अत्यन्त स्नेह रखते थे। कई बार कहा भी, 'अब तो हम सब कुछ छोड़कर ब्रह्मचारीजी के ही चरणों में रहेंगे, उन्हीं की आज्ञा का पालन करेंगे।' किन्तु मेरे में और उनमें तत्वतः अभेद था। मैं किसी प्रकार से उनका अनुसरण नहीं कर सकता था। वे घड़ी की सुई पर काम करने वाले थे, वक्ता को पाँच मिनट का समय दिया है, उसने यदि छैः मिनट ले लिये तो वे अप्रसन्न। सत्संग का समय पौने सात बजे है, यदि आप

एक मिनट भी पिछड़ गये तो वे अप्रसन्न, अमुक स्थान में जाना है आपने कोई अड़चन बतायी, तो वे अप्रसन्न। समय का पालन वे घड़ी की सुई से करते थे। उनका पूजा, पाठ, जप, तप सब समय का पालन ही था। कथा और कीर्तन को छोड़कर वे जप, तप, पूजा पाठ किसी को महत्त्व नहीं देते थे। समय पर उनके कथा कीर्तन सत्सङ्ग में पहुँच जाओ, जब तक पूरा न हो उठो नहीं, वे जो कहें उसे बिना ननुनच के मान लो, तब तो वे प्रसन्न, तनिक भी आपने ननुनच की तो उनका चित्त दुखी हो जायगा। मैं अपनी त्रुटियों को जानता था। मुझे नियम से पूजा, पाठ, जप, आदि करना पड़ता, इससे मैं कभी भी समय पर नहीं पहुँच पाता था। मुझे देखते ही वे हँसकर कहते— "ब्रह्मचारीजी तो समय का पालन करना जानते ही नहीं।" मैं अक्षरशः आज्ञाओं का भी पालन नहीं कर सकता था। उसमें दोष दिखाता, तर्क करता, कभी-कभी उनकी हँसी भी उड़ाता। फिर भी वे मेरा आदर करते थे, कभी अप्रसन्न नहीं होते थे। मुझे स्मरण नहीं कि कभी वे मुझसे अप्रसन्न हुए हों और मुझे डाँटा डपटा हो। एक बार तो ऐसा हुआ।

हमारे प्रयागके नागा बाबाजी थे, उनके एक शिष्य थे दीनजी। वे रामचरितमानस की कथा बड़ी सुन्दर करते थे। उन्हें जिसकी कथा पसन्द आ गयी, उसे साथ ही रखना चाहते थे, जिसका कीर्तन, जिसकी लीला, जिसका रास उनकी इच्छा के अनुसार हुआ, उसे वे छोड़ना नहीं चाहते थे। दीनजी को वे अपने प्रत्येक उत्सव में बुलाना चाहते थे किन्तु वे अपने गुरु श्रीनागा बाबाजी की आज्ञा के अधीन थे। नागाबाबा त्रिवेणी बाँध पर रहते थे। पढ़े लिखे तो भगवान् का नाम ही थे, स्वभाव के भी अत्यन्त उग्र थे। हरिबाबा उन्हें प्रसन्न रखना चाहते

थे, जिससे दीनजी को बुला सकें। मुझे आदेश हुआ नागाबाबा और दीनजी को लेकर बाँध के उत्सव में आओ। मैं इन्हें लेकर गया। होली का समय था। रास के स्वरूपों से सभी होली खेलते हैं, स्वरूप भी सबके अबीर गुलाल लगाते हैं। नागाबाबाजी अड़ गये, कि होली की लीला हो तभी स्वरूपों के कोई रंग लगावे। अन्य लीलाओं में नहीं। इससे सभी दुखी थे। सबने मुझसे कहा। मुझे तो किसी का भय था नहीं। मैं गुलाल लेकर स्वरूपों को लगाने को चला। हरिबाबा भी जानते थे, यह किसी से भय खाने वाला नहीं। नागाबाबा के उग्र स्वभाव से भी वे परिचित थे, कि उनका किसी ने विरोध किया तो वे अभी चल देंगे।

मुझे आते देखकर हरिबाबा ने मुझे डाँट कर कहा—"ब्रह्मचारीजी! खबरदार जो आपने स्वरूपों के गुलाल लगाइया। बैठ जाइये।" मुझे लगा तो बहुत बुरा किन्तु मैं क्रोध को पीकर अपने स्थान पर जाकर बैठ गया। मैं उनकी बात का औचित्य समझता था। उत्सव का भार उनके ही ऊपर था। रङ्ग में भङ्ग न हो अतः उन्होंने मुझे अपना समझकर डाँटा। वैसे उनका मेरे प्रति अगाध स्नेह था। जब भी वे बाँध से ऊब जाते मेरे समीप प्रयाग में आ जाते थे।

× × × ×

एक बार प्रयाग का कुंभ पड़ा। आप आये, मेरे यहाँ न ठहरकर पुरानी झूसी में इसी पार खुरजा के सेठ गौरीशङ्करजी गोयनका का अन्नक्षेत्र लगा था उसी में एक फूँस की कुटिया में आकर ठहरे। मैं उनसे मिलने गया। उन्होंने मुझे एक घटना सुनायी। वे बताते थे—"सरदी के कारण मुझे श्लेश्म हो गया, शरीर टूटने लगा, ज्वर भी हो गया था। मैं कम्बल

ओढ़े चुपचाप पड़ा था। तभी एक आदमी कहीं से पूछता-पूछता आया—"हरिबाबाजी कहाँ ठहरे हैं ?"

किसी ने मेरी कुटी बता दी। आकर उसने पूछा—"हरिबाबा कहाँ हैं ?

मैंने कहा—"क्या बात है ?"

उसने पूछा—"आप ही हरिबाबा हैं ?"

मैंने कहा—"कहो, क्या पूछना है, हाँ मैं ही हूँ।"

उसने कहा—"आप ऐसे क्यों पड़े हैं ?"

मैंने कहा—"अरे, भैया ! स्वास्थ्य ठीक नहीं है, ज्वर है, श्लेष्म है।"

उसने गरजकर दृढ़ता के स्वर में कहा—"नहीं, आपको कभी ज्वर नहीं हो सकता। आप कभी अस्वस्थ नहीं हो सकते। आप स्वस्थ हैं, भले चंगे हैं, उठकर बैठिये।"

यह कहकर उसने झटके के साथ मुझे उठाकर बैठा दिया। सचमुच, न मुझे ज्वर था, न श्लेष्म, मैं स्वस्थ हो गया।' वे ऐसी ही अनेक घटनायें सुनाया करते थे। उन्हें आप बीती घटना सुनाने में, दूसरों पर बीती भगवत् सम्बन्धी घटना सुनने में बड़ा आनन्द आता था। वे राजनीति से संसारी लड़ाई-झगड़ों से, आंदोलनों से कोसों दूर रहते थे। कभी समाचार पत्र न पढ़ते न किसी से सुनते। जब सत्याग्रह, असहयोग की चारों ओर धूम थी वे चुपचाप अपने कथा कीर्तन में निमग्न रहते। किसी ने कहा भी—"महाराज,देश में चारों ओर स्वतंत्रता की धूम मची है। आप उसमें तनिक भी भाग नहीं लेते ?"

तब आपने कहा—"जैसे ये स्वराज्य वाले उत्साह से कार्य कर रहे हैं, जेल जा रहे हैं, लाठी डण्डा सह रहे हैं, वैसे ही

उत्साह से हमें भगवत् प्राप्ति में लग जाना चाहिये। सचमुच वे अपनी वृत्ति को कभी भी वहिर्मुख नहीं होने देते थे। बाँध के कार्यो से भी कभी-कभी ऊब जाते या अपने अनुयायियों से रुष्ट हो जाते, तो या तो भागकर मेरे पास आ जाते या गङ्गा किनारे-किनारे कहीं गुप्त स्थानों मे चले जाते।

× × × ×

एक वार अकस्मात् अकेले ही रात्रि में मेरे पास आये। उन दिनों मैं हंसतीर्थ में सन्ध्यावट के नीचे अकेला ही रहकर अनुष्ठान करता था। कुछ पेट की गड़बड़ी थी, मैंने एक चूर्ण बनाकर रख रखा था–सोंठ, मिरच, पीपर, जीरा, हींग, राई, चित्रक और सेंधानमक। इन आठ वस्तुओं में से हींग, जीरा और राई ये तीनों भूनकर शेष सब बिना भुनी कूट पीसकर कपड़े में छान कर रख लेता। यह पेट के लिये बहुत ही लाभदायक अत्यन्त स्वादिष्ट चूर्ण होता है। इसे मट्ठा में डालकर अथवा साग भाजी दाल में डालकर अमरूद आदि फलों के साथ खाओ। उन दिनों मैं दूध और बेल पर ही रहता था। कभी लोकी उबालकर उसका साग भी लेता था। श्रीहरिबाबा बड़े भूखे थे। न जाने कब से नहीं खाया था। मैंने तुरन्त अँगीठी जलायी, लोकी पपीता उबला रखा था। उन दोनों को निचोड़कर शुद्ध घी में जीरे से छौंककर उसमें वह निचोड़ा हुआ जल भी मिलाया और वह चूर्ण भी मिला दिया। गरमा गरम परामठे सेकता गया, वे खाते ही गये, खाते ही गये। न जाने कितना खाया। मुझसे बार-बार पूछें—"यह साग बड़ा दिव्य बना है। किस चीज का है? ऐसा साग तो मैंने जीवन में कभी खाया ही नहीं।" वास्तव में इस चूर्ण के मिला देने से साग दिव्य बन जाता है, पाठक पाठिकायें बनाकर देखें। तब वे प्रायः लोकी,

पालक और पपीता मिलवाकर साग बनवाया करते थे, पेट के वे जन्मजात रोगी थे।

× × × ×

एक बार हमारे चौदह महीने के अनुष्ठान में बहुत दिनों तक रहने आये। उन दिनों मैं साधकों के प्रबन्ध में बहुत व्यस्त था, इनके रहने आदि की समुचित व्यवस्था नहीं हो सकी। वे सीतारामबाबा व आनन्दजी आदि को लेकर श्रीबद्रीनारायण चले गये। कहाँ तो सहस्रों आदमियों का भंडारा बाँध पर नित्य करते। कहाँ काली कमली वाले क्षेत्र से साधुओं की टिकट लेकर गये। उस टिकट में आधा सेर या तीन पाव आटा दाल प्रत्येक दस बारह मील की चट्टी पर मिलता। उन दिनों सड़क नहीं बनी थी, पैदल ही सब बद्रीनाथ की यात्रा करते। आनन्दजी बता रहे थे एक दिन मुझसे बोले—"आटा को बदल कर कहीं से चावल ले आओ।"

आनन्दजी ने कहा—"मैं तो जाता नहीं, मुझे लाज लगती है। तब आप स्वयं आटा लेकर एक दुकान पर गये और उसके बदले में चावल ले आये।" कहाँ लाखों नर नारी दर्शनों को तरसते थे, हाथी पर निकलते थे तब रुपयों की वर्षा लोग करते थे, कहाँ आधा सेर आटा लिये उससे चावल बदलने को दुकान पर खड़े हैं। "लोकोत्तराणां चेतांसि कोनु विज्ञात मर्हसि।"

× × × ×

एक दिन माघ में उस पार से मेरे पास आ रहे थे। नौका से पार हुए। नौका वाले ने पैसा माँगा। तो आपने कहा—"भैया! हमारे पास पैसा तो है नहीं। मल्लाह तो मल्लाह ही ठहरा। उसने कड़ाई के साथ कहा—"नहीं आपको पैसा देना पड़ेगा।" तब आपने कहा—"भैया! हमें संकीर्तन भवन में ब्रह्मचारीजी के

जाना है।" उन दिनों में घाट हटाने के आन्दोलन में मल्लाहों की ओर से नेतृत्व करता था।

इतना सुनते ही मल्लाह ने कहा—"अच्छा, महाराज जी के यहाँ जाना है, आइये आइये।"

आकर आप बोले—"भैया! नाम का माहात्म्य तो हमें आज ही जान पड़ा। आज ब्रह्मचारीजी के नाम से ही हम पार हो गये।" यह कहकर खिल-खिलाकर हँसने लगे।

× × × ×

एक बार आये, उन दिनों मैं प्रयाग पंचकोशी परिक्रमा का पुनरुत्थान आन्दोलन कर रहा था। अन्तर्गृही की अक्षय नवमी को परिक्रमा उठानी थी। आपने हम सबके साथ पैदल ही पैदल दो दिनों तक कीर्तन करते हुए साथ ही साथ परिक्रमा की। कहाँ तो ऐसे सुकुमार बन जाते कि एक दो फुलका की पपड़ी और मूँग की दाल का पानी लेते। और कभी-कभी खाने बैठते तो दो चार आदमियों का भोजन पा जाते।

... × × × ×

उनकी अनन्त स्मृतियाँ हैं। अनेकों बार हम महीनों साथ-साथ रहे हैं, साथ-साथ यात्रायें की हैं। अब वे सब बातें कहने सुनने को ही रह गयी हैं। आगे के संस्मरणों में उन सबका वर्णन आता रहेगा। यहाँ तो मैंने प्रसंगानुसार दो चार घटनायें लिख दीं। उनके जीवन में त्याग-संग्रह, विरक्तता वैभवता, सुकुमारता-कठोरता आदि सभी विरुद्ध धर्मों का मिश्रण दिखायी देता था। तभी तो किसी ने कहा है—

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि कोऽनुविज्ञातुमर्हति॥

दोहा

वज्र समान कठोर अति, सुमन सरिस सुकुमार।
महत पुरुष मन सम विसम, बुध जन करहु विचार ॥

जीवन के अन्तिम दिनों में मेरा उनका विशेष संपर्क नहीं रहा। नहीं तो हम दूर रहने पर भी वर्ष में कई बार मिलते और साथ-साथ रहते।

जिन दिन हम गंगा किनारे की यात्रा में बाँध पहुँचे, उस समय वे होशियारपुर या कहीं अन्यत्र चले गये थे। रामेश्वर ने बाँध बचने का पूरा वृत्तान्त बताया। उनके बाबा लाला कुन्दन लालजी सभी साधुओं का स्वागत सत्कार करते थे, किन्तु मुझसे उनका अत्यन्त स्नेह था। एक दो दिनों तक हम गाँव में रहे। लाला कुन्दनलालजी के तीन पुत्र थे। लाला किशोरी लाल, लाला मुरारीलाल और लाला बाबूलाल। वैसे तो हम से पूरे परिवार के ही लोग आत्मीयता रखते हैं किन्तु लाला बाबूलाल जी अत्यन्त ही स्नेह रखते हैं। अब न लाला कुन्दनलाल ही रहे, न किशोरीलाल, न मुरारीलाल ही रहे। रामेश्वर भी चल बसे। श्रीहरिबाबा भी पधार गये। उनके प्रायः सभी साथी संगी पार्षद भी चल बसे। अब केवल वृद्धावस्था के कष्टों को सहते हुए लाला बाबूलालजी ही सांस ले रहे हैं। काल की कैसी कुटिल क्रीड़ा है। जिनके साथ अनेक सुखद प्रसंग आये थे अब उन सबकी मीठी-मीठी स्मृतियाँ ही शेष रह गयी हैं। "कालस्य कुटिला गतिः।"

हाँ, तो हम गंगा किनारे-किनारे चल दिये। आगे, उस पार अवन्तिका देवी हैं। वहाँ नवरात्रियों में, शिवरात्रि पर बड़ा मेला होता है, हम लोग वहाँ के दर्शन करते हुए फिर रामघाट

पुर पहुँचे। असहयोग के आन्दोलन में मैं बुलन्दशहर के गाँवों में घूमता घामता यहाँ आया था। उन दिनों यहाँ नौका में एक बड़े विरक्त सन्त तोतारामजी रहते थे। वे स्यात् दादू पन्थी थे। अपने समय में वे परमविरक्त विद्वान् और त्यागी माने जाते थे। मैंने जब इनके दर्शन किये तब वृद्ध हो चुके थे। शरीर में कुष्ट रोग हो गया था। दो माइयाँ उनकी सेवा में थीं।

उन्होंने मुझसे पूछा—"तुम गाँवों में क्यों घूमते हो?"

मैंने कहा—"स्वराज्य का प्रचार करता हूँ।"

वे बोले—"तुम्हें कै रुपये महीने मिलते हैं?"

उन दिनों आर्य समाज के उपदेशक मासिक वेतन लेकर प्रचार किया करते थे। मैंने कहा—"स्वामीजी! मैं वेतन भोगी प्रचारक नहीं हूँ, मैं तो देशभक्ति के कारण वैसे ही प्रचार करता फिरता हूँ।" उन दिनों यहाँ एक दक्षिणी स्वामी भी थे। स्वामी शास्त्रानन्दजी भी एक कुटी में रहते थे। दुबारा जब हम गये थे, तब वे सब परलोकवासी हो चुके थे, केवल स्वामी शास्त्रानन्दजी ही बचे थे। उन्हीं के पास रहे। वे बड़े विरक्त सन्त हैं, पुराने सन्तों में वे ही एक बचे हैं। वहाँ से हम पेटपाल की कुटी पर पहुँचे। पेटपालजी बड़े साधु सेवी सन्त थे। गंगा किनारे विचरण करने वाले कोई भी सन्त जाते उन सबको भोजन कराते। साधुओं का यह एक अच्छा अड्डा था। मांढू का घाट भी वहीं कहीं आस-पास में था। वहाँ स्वामी योगानन्दजी ने अपनी कुटी और गुफा बनवायी थी। स्वामी योगानन्दजी योगाभ्यास करते थे, कुछ योग की क्रियायें करते थे। हमारे स्वामी अच्युता मुनि को भी उन्होंने कुछ क्रियायें सिखायीं थीं। इसलिये उनके भक्त सेठ गौरीशंकरजी गोयनका ने उनके लिये पक्की कुटी गुफा बनवायी थी। पीछे मतभेद होने पर स्वामीजी मांढू

से चले आये थे। स्वामी योगानन्दजी विवाह करके फिर गृहस्थी हो गये थे। बहुत दिनों पश्चात् एक दिन वृन्दावन में मुझे सफेद वस्त्रों में मिले। वहाँ उन्होंने कोई चक्की लगा रखी थी। मुझसे आकर बोले—"मुझे पहिचानते हैं?"

मैंने कहा—"नहीं।"

तब बोले—"मैं योगानन्द हूँ।"

मैंने सुन तो रखा था। प्रारब्ध का किसी को पता नहीं चलता। उनके बड़े-बड़े जज, सेठ, साहूकार शिष्य थे। पीछे वे सब विरुद्ध हो गये। अन्तिम समय उनका कष्टप्रद ही व्यतीत हुआ।"

मांडू से आगे हम गढ़ मुक्तेश्वर होते हुए बिजनौर जिले में विदुरकुटी पर पहुँचे। उन दिनों विदुरकुटी पर कुछ नहीं था, एक टीला था। लोग बताते थे, विदुरजी ने भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्रजी को बथुआ का साग खिलाया था, अतः इस टीले पर बारहों महीने बथुए का साग होता है। आज कल तो वहाँ बड़ा भारी आश्रम बन गया है, विद्यालय, वानप्रस्थ आश्रम, चिकित्सालय, भारत माता का मन्दिर बहुत से स्थान बन गये हैं। आधुनिक सभी सुख सुविधायें उपलब्ध हो गयी हैं। उधर ईख की खेती बहुत होती है। हम लोगों को जब भूख लगती तो खेतों पर कोई होता, तो उससे माँगकर ईख चूस लेते। कोई न होता तो ईख तोड़कर उसी खेत की मेड़ पर बैठकर चूस लेते। भूख में पेट भरने मात्र को खेत में तोड़ कर वहीं खा लें, तो शास्त्रकारों ने इसमें विशेष दोष नहीं बताया है।

एक दिन हमने एक खेत में से कुछ गन्ने तोड़े और उसकी मेड़ पर बैठकर ही चूसने लगे। इतने में ही उस खेत की स्वामिनी एक मुसलमानिनि आयी। हमें गन्ने चूसते देखकर

वह जलभुन कर भस्म-सी हो गयी। सैकड़ों बुरी-बुरी गालियाँ देने लगी। हम हँसते रहे, हमें हँसते देखकर उसका क्रोध और भी बढ़ा। बहुत अनाप सनाप बकने लगी। विष्ठा खा रहे हो, तुम्हें लाज नहीं। अभी पुलिस में जाकर पकड़वाऊँगी। थाने में ले चलूँगी।"

उससे पहिली ही रात्रि में वहाँ का थानेदार मिला था। उसने हमारे प्रति अत्यन्त ही श्रद्धा भक्ति प्रकट की थी। हमने कहा—"अच्छा, चलो थाने में ही चलते हैं। तब फिर वह गालियाँ देने लगी। जो गन्ने चूसने से बचे थे, वे हमने उसकी ओर फेंक दिये। इन्हें ले जा।"

उसने क्रोध में भरकर हमारी ओर उन्हें फेंकते हुए कहा—"ले जाओ इस विष्ठा को तुम ही खाओ।" हम हँसते हुए आगे चल दिये। वालीवाला पुल के पास कांच का कारखाना था, वालीवाला से लुकसर आये। उन दिनों लुकसर एक बहुत ही छोटा-सा ग्राम था। रेल का स्टेशन जंक्शन होने से बड़ा था। अबके जब मैं लुकसर उतरा तो देखा लुकसर तो आधुनिक सुख सुविधाओं से सुमज्जित सुन्दर नगर बन गया है। लुकसर से हरिद्वार आ गये गंगा स्नान किया, हरि की पौड़ी का दृश्य देखा। पहिले दृश्य में और अबके दृश्य में भूमि आकाश का अन्तर हो गया है। जगत् परिवर्तनशील है, क्षण-क्षण में सब बदलता रहता है। कोई वस्तु स्थायी नहीं, एक-सी रहने वाली नहीं। सबको बात छोड़ दीजिये। अपने शरीर को ही ले लीजिये। हम जब तीन चार वर्ष के थे, तभी से सब याद है। कैसे छोटे छोटे सुकुमार परे आदि अंग थे। फिर बड़े हुए, किशोरावस्थापन्न हो गये। फिर युवक हुए। प्रौढ़ हुए, सबसे कहते—कोई हमारे सिर में एक सफेद बाल निकाल दे तो उसे एक रुपया पारितोषिक

देंगे। आज सिर में, दाढ़ी में, मूँछों में, सम्पूर्ण शरीर में सफेद-ही-सफेद बाल हैं। बहुत खोजने पर कोई काला बाल मिले। आँखें पुरानी पड़ गयीं, कानों से कभी-कभी कम सुनायी देने लगता है। दाँतों ने खिसकना आरम्भ कर दिया। चर्म सिकुड़ने लगा। क्या से क्या हो गये। जब शरीर की यह दशा है तो पेड़, पत्तो, घास, लता, वृक्ष, गिरि काननों की क्या दशा थी। उस दिन अपनी कुटिया के सम्मुख एक बड़े-बड़े पत्तों वाला पीपर उग आया। उस पौधे को उठाकर नीचे लगा दिया। अब वह इतना महावृक्ष हो गया है, कोई कहता है सौ वर्ष का होगा, कोई चार सौ वर्ष का बताते हैं। एक नन्हें से बीज का ऐसा विस्तार।

यही मायेश की माया है, यही खिलाड़ी का खेल है, यही नटवर की नाट्य विद्या है, यही लीलाधारी की लीला है, यही विहारी का विनोद है, यही मनमोहन का मनोरंजन है। हरिद्वार में तब बिजली नहीं थी, टीमटाम चाक चिक्य कुछ भी नहीं था। तब के हरिद्वार का स्मरण करता हूँ और अबके हरिद्वार को देखता हूँ, तो हक्का-बक्का रह जाता हूँ। उस समय न घण्टा-घर था, न मैदान, न घाट, न इतनी चौड़ी सड़कें। सब मेरे देखते-देखते बनी हैं।

हरिद्वार के कुम्भ का एक बार मेला था। एक ऊँचे स्थान पर खड़ा एक महात्मा चिल्ला-चिल्ला कर कह रहा था—"देखो, भाई! जितने ये नर नारी हैं, सौ वर्ष पश्चात इनमें से एक भी न बचेगा फिर भी सौ वर्षों पश्चात यहाँ भीड़ ऐसी ही बनी रहेगी।" यही भगवान् की माया है। हम जिस घाट पर जहाँ नदी में स्नान करते हैं वह जल तुरन्त बह जाता है, उसके स्थान तुरन्त दूसरा जल आ जाता है। जब मैं गया था, हरिद्वार छोटा-सा गाँव था। ऋषीकेश वहाँ से १४, १५ मील था। कजली-वन महान् बीहड़

मार्ग, लोग अकेले जाने में भयभीत होते थे, सिंह, व्याघ्र, हाथियों का सर्वत्र आतङ्क भय था। आज हरिद्वार ऋषीकेश एक हो गये हैं। भवनों की भरमार है, आश्रमों का ताँता लग गया है, बड़े-बड़े कारखाने खुल गये हैं, क्या से क्या हो गया? संसार का यही नियम है, कोई स्थायी नहीं, कोई शाश्वत नहीं। सभी नाशवान् सभी विनाशशील, कोई साथ जाने वाली वस्तु नहीं। सभी यहीं रह जायँगी, सभी को पृथ्वी माता निगल लेगी। यह सब जानते हुए भी प्राणी को वैराग्य नहीं होता। उसके मन में त्याग के भाव नहीं आते। नश्वर पदार्थों को बाँधे रखना चाहता है। किसी को देने में उसका हृदय विदीर्ण होता है, किन्तु यमराज के सामने किसी की कुछ चलती नहीं—

तूँ जग तैं नाता तोड़ ले ॥

मुट्ठी बाँधकर आया बन्दे, हाथ पसारे जायगा।
कुछ संग नहीं ले जायगा, सब यहीं धरा रह जायगा॥
कुछ राम भजन तू कर ले, कुछ टोसा सँग में धर ले।
तूँ खेत सुघर करि गोड़ ले॥ तूँ जग तैं० ॥१॥

चुन चुन के पाथर जोड़े, कहता है थोड़े थोड़े।
लाया ईंटों के रोड़े, चूना गारे महँ घोरे॥
(अरे) यह महल यहीं रह जायगा।
मूरख तूँ फिरि पछताइगा॥
नटवर से नाता जोड़ ले॥ तूँ जग से० ॥२॥

ये सम्बन्धी सब भाई, तेरी यह सुघर लुगाई।
बेटा बेटी अरु भाई, यह लड़की अपनी जाई॥
सँग तेरे नहिं ये जायँगे, अगिनी में तोइ बरायँगे।
भव विषयनि सँग तू छोड़ ले॥ तूँ जग से० ॥३॥

ये रक्त मांस नस हड्डी, नोटों की भारी गड्डी।
हाथी, घोड़ा, रथ चड्डी, सब यहँ हीं रहें फिजिड्डी॥
नहिँ हाथ अरे कछु आइगा, तू देखत ही रह जायगा।
तू सत्य झूठ को तोल ले॥ तू जग से० ॥४॥

यह खेती अति उपजाऊ, ये चाचा चाची ताऊ।
सब सम्बन्धी हैं खाऊ, हैं हाऊ और बिलाऊ॥
तू सीख मानि ले भैया, सँग जाइ न एक रुपैया।
तूँ निज करमनि कूँ फोड़ ले॥ तूँ जग से० ॥५॥

बस, भैया! हरिद्वार तक आ गये। संस्मरण का समय और स्थान समाप्त हुआ। अब आगे की बात अगले संस्मरण में—

छप्पय

यह जग चालू मार्ग जीव नित आवें जावें।
सब ई इक दिन जायँ नहीं कोई रहि जावें॥
चलत चलत जे पथिक पुन्य करिकें सुख पावें।
पाप करत जे रहत रिक्त हाथनि ते जावें॥
चलो, चलें कछु करि चलें, राम काम में एक चुनि।
राम भजें सुख, कामतें—दुःख होइ रे अज्ञ! सुनि॥

झूसी संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर (प्रयाग)
फाल्गुन शु० पूर्णिमा २०२९ वि०

विनीत
प्रभुदत्त

मातृ-स्मरण

(विशेषः)

भ्रातः कष्टमहो महान्स नृपतिः सामन्तचक्रं च तत् ।
पार्श्वे तस्य च सा विदग्धपरिषत्ताश्चन्द्र बिम्बाननाः ॥
उद्रिक्तः स च राजपुत्रनिवहस्ते वन्दिनस्ताः कथाः ।
सर्वं यस्य वशादगात्स्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः ॥*
(श्री भ० वै० श० ३५ श्लो०)

छप्पय

टूट्यो फूट्यो किलो निरखि कवि कहे दुखित चित ।
राजा एक महान रही नगरी सुन्दर इत ॥
सेना अतिचतुरङ्ग राजपरिषद अति मनहर ।
चन्द्रमुखी बहु नारि कुमर सुकुमार सुघरवर ॥
बिरुदावलि बन्दी वदत, अब नहिँ तिनिको नाम है ।
ऐसे निरदय कालकूँ, बारम्बार प्रनाम है ॥

---

* भैया ! बड़े कष्ट की कथा है, देखो यहाँ एक महान् राजा था। उसके बड़े-बड़े सामन्त थे, समीप में ही विदग्धा परिषद् थी, उसकी वे चन्द्रानना नारियाँ थीं। बहुत राजपुत्रों का समूह स्पष्ट रूप में इधर-उधर घूमता था, बन्दीगण राजा की विरुदावली गाया करते थे, किन्तु काल के प्रभाव से वे सब कहने सुनने की ही बातें रह गयीं। उन काल भगवान् को नमस्कार है।

काल की कैसी कुटिल क्रीड़ा है, जिनसे अपना इस जन्म में कोई सम्बन्ध नहीं। वे सगे सम्बन्धियों से भी अधिक प्रियतर प्रियतम बन जाते हैं। इसके विपरीत एक माता के उदर से उत्पन्न सगे भाई शत्रु बन जाते हैं। कभी-कभी विधि विधान के कारण अपने न करने योग्य कार्य करने पड़ते हैं और कभी कर्तव्य कर्मों से भी पराङ्मुख होना पड़ता है। संन्यासी के लिये जननी का श्राद्ध तर्पणादि कर्म करना निषेध है, किन्तु आद्यशंकराचार्य को संन्यासी होकर भी माता का श्राद्ध करना पड़ा क्योंकि वे प्रथम ही वचन बद्ध हो चुके थे। हम लोग जो जन्मजात साधु हैं, जिन्होंने बहुत छोटी अल्प आयु में ही घर-द्वार-कुटुम्ब परिवार का मोह त्याग दिया हो, जो बालकाल में हो गृह त्यागी बन गये हों, उन्हें मातृ-पितृ सुख से वञ्चित ही रहना पड़ता है। किन्तु विधि के विधानानुसार ऐसे गृहत्यागियों को अपनी जननी से न सही किन्हीं धर्ममाता से मातृ स्नेह प्राप्त हो जाता है। प्रतीत होता है, वे किसी पूर्वजन्म की माता रही होंगी।

एक छिंदवाड़ा जिले का लड़का अविनाश मेरे पास रहता था। सन् एकत्तीस के आन्दोलन में मेरे साथ जेल भी गया था। नागपुर के पास पांढुरना का रहने वाला था। उसी ग्राम में वहाँ की उपनगरपालिका के विद्यालय के प्रधानाध्यापक श्रीनाहतकरजी थे। नाहतकरजी तीन भाई थे। उनका सबसे छोटा भाई बहुत ही सुन्दर, सुयोग, भगवत् भक्त और अत्यन्त होनहार युवक था। मैंने तो उसे देखा ही नहीं, उसका चित्र ही देखा था। सोलह सत्रह वर्ष की अल्प आयु में ही उसका देहान्त हो गया। इससे नाहतकरजी की माता को अत्यन्त ही दुःख हुआ, वे दिन रात उसी का स्मरण कर करके

रोती ही रहती थीं। इससे घर वाले अत्यन्त दुखी हुए। अविनाश की सम्मति से वे उस वृद्धा माता को मेरे समीप लाये, उन दिनों मैं श्रीहरिबाबाजी के बाँध पर रहकर श्रीचैतन्य चरितावली लिख रहा था।

मैंने बुढ़िया को समझाते हुए कहा—"माँ! अब रोने से क्या होता है, उसके इतने ही दिन के भोग थे। तुम्हारा उससे इतने ही दिन का सम्बन्ध था। तुम मुझे ही अपना पुत्र मानलो।"

बात तो मैंने साधारण रूप से केवल समझाने को कही थी, किन्तु बुढ़िया ने उसे अक्षरशः सत्य मान लिया। उसी समय रोना उसने बन्द कर दिया। मुझे ही अपना पुत्र मानने लगी। उस वृद्धा माँ के स्नेहवश मैं कई बार पांढुरना गया। उनके घर में पुत्रवत् रहा। माँ मुझे अपने हाथों स्नान करातीं, भाँति-भाँति की फलाहारी वस्तुएँ बना बनाकर खिलातीं। ऐसा मातृ स्नेह कहाँ मिलेगा? उनके दो लड़के थे, उन सबके दश बारह लड़के थे। दो लड़कियाँ थीं, उनके भी छः सात लड़के थे। वे सबके सब मुझे अपने परिवार का ही समझते। लड़कियों के लड़के मामा कहते। देखिये, इसी का नाम प्रारब्ध है। अपने घर से, सगे सम्बन्धियों से नाता तोड़कर आया यहाँ आत्मीय जन बन गये। उनका मेरा इस जन्म का कुल गोत्र एक नहीं, भाषा एक नहीं, वे मराठी भाषा भाषी, मैं हिन्दी, प्रान्त एक नहीं, सम्प्रदाय एक नहीं, वे लिङ्गपतशैव मैं स्मार्त वैष्णव। इतनी सब भिन्नता होने पर भी हृदय की एकता के कारण सभी विभिन्नतायें नष्ट हो गयीं। इसीलिये कवि ने कहा है—

प्रकृति मिले मन मिलत है, अनमिल तैं न मिलाय।
दूध दही तैं जमत है, कांजी तैं फटि जाय॥

दही और कांजी दोनों ही खट्टी वस्तुएँ हैं, किन्तु कांजी से दूध फट जाता है, दही से जम जाता है। जिनसे पूर्वजन्मों के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध होते हैं, वे कितने भी दूरदेश के क्यों न हों, कितनी भी विभिन्नतायें क्यों न हों, वे मिल जाते हैं। और जिनसे पूर्वजन्म के शत्रुता पूर्ण सम्बन्ध हैं, वे सगे भाई होने पर भी विलग हो जाते हैं, प्राणघातक सिद्ध होते हैं।

आज एक ऐसी ही अन्य धर्ममाता के सम्बन्ध में मुझे बताना है, जिनका मुझे अन्तिम संस्कार करने-नियम में रहते हुए भी देहरादून जाना पड़ा। वे हमारी धर्म की माँ राजमाता मदालसा देवी थीं, जो नैपाल के भूतपूर्व महाराजा की पुत्री, नाहन सिरमौर के भूतपूर्व महाराजा की महारानी और दिवंगत भूतपूर्व महाराजा की माता-राजमाता थीं।

हमारे भारतवर्ष में नैपाल, भूटान और सिक्किम ये ही तीन पहाड़ी राज्य ऐसे रह गये हैं जो अँगरेजी शासन की चपेट मे पूरी तरह नहीं आये। भूटान और सिक्किम तो राज्य क्या हैं, नाम के राज्य हैं। हमारे एक नगर के बराबर भी नहीं। हाँ, नैपाल राज्य कहने योग्य है। नैपाल में पहले छोटे-छोटे चार सौ राजा थे। सभी प्रकार से स्वतन्त्र। दस, बीस, पचास, सौ गाँवों के राजा होते थे। वे आपस में लड़ते-भिड़ते रहते थे।

पहिले वन और पर्वत किसी भी राज्य में नहीं माने जाते थे। इनमें वर्णाश्रमी राजा नहीं रहते थे, न वन पर्वतों की किसी सम्पत्ति-कंद, मूल, फल, पत्थर, लकड़ी आदि-पर अपना स्वामित्व प्रकट करते, न उनमें हस्तक्षेप ही करते। वन पर्वतों की समस्त वस्तुओं के अधिकारी वन पर्वतों में रहने वाले अवर्णाश्रमी जंगली मनुष्य तथा ऋषि मुनि ही माने जाते थे।

पहिले दो ही प्रकार के मनुष्य होते थे वर्णाश्रमी और अवर्णाश्रमी। अवर्णाश्रमी से अहिन्दु न समझें। पहिले हिन्दु अहिन्दु का भेद भाव ही नहीं था। यह भेद भाव तो मुहम्मदीय सम्प्रदाय के मुसलमानों के आने पर हुआ। हम वर्णाश्रमी अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्णों में बांटकर रहते थे। इनके अतिरिक्त अन्य सभी अवर्णाश्रमी होते थे। वर्णाश्रमी राजाओं के भी छोटे छोटे राज्य होते थे। किसी राजकुमार ने, ब्राह्मण ने कोई अपराध किया तो उसे देश निकाले का दण्ड दिया जाता था। वन और पर्वत तो किसी के राज्य में माने ही नहीं जाते थे, अतः वे लोग वन पर्वतों में चले जाते थे। वैश्य और शूद्र तो प्रजा ही माने जाते थे, इन्हें शारीरिक दण्ड भी दिया जाता था। प्राण दण्ड भी इन्हें दिया जाता था। किन्तु ब्राह्मण कैसा भी अपराधी क्यों न हो उसे प्राण दण्ड न देकर देश से निकाल दिया जाता था। क्षत्रिय अपराधी या तो सम्मुख आकर युद्ध करे अन्यथा उसे भी प्राण दण्ड न देकर देश निकाले का ही दण्ड दिया जाता था। देश से निकाले राजकुमार दूसरे क्षत्रियों के राज्य में तो जाते नहीं थे। वे वन तथा पर्वतों में अपने मन्त्री पुरोहितों सहित चले जाते थे। वहाँ जाकर वे छोटा-मोटा किला गढ़ बनाकर अपने को राजा घोषित कर देते थे। शुद्ध क्षत्रिय उन्हें अपनी कन्या तो देते नहीं थे अतः वे वनवासी गिरिवासियों की लड़की ले लेते थे। वे ही क्षत्रियबन्धु कहलाते थे। इस प्रकार वन पर्वतों में भी वर्णाश्रमी बसने लगे। नहीं तो वन पर्वतों में तपस्वियों को छोड़कर कोई वर्णाश्रमी नहीं रहता था। वहाँ किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिंद, पुल्कस, आभीर, कंक तथा यवनादि वर्णाश्रमेतर जाति के जंगली लोग रहते थे। नेपाल में ऐसे छोटे-छोटे राजा चार सौ थे। गढ़वाल

में भी दो सौ तीन सौ थे। नेपाल में पहिले कोल, किरात, निवाड़ आदि जंगली जाति के लोगों का राज्य था। काठमांडू से बीस मील दूर एक गोरखा राज्य था ये नीवाड़ वंश के थे। उस राजा को जीतकर समीप के ही एक क्षत्रिय ने गोरखा पर अपना अधिकार कर लिया, उनका नाम था द्रव्यशाह। इनकी आठवीं पीढ़ी में पृथ्वीनारायण शाह हुए। जिन्होंने छोटे-मोटे चौबीसों राजाओं को जीतकर विशाल नेपाल राज्य बनाया। इन्होंने ही कान्तिपुर (काठमांडू) को अपनी राजधानी बनाया। इसी राजवंश में गीर्वाण युद्ध विक्रमशाह हुए, ये महाराजा के भाई थे। इन्होंने कमायूँ, गढ़वाल के अल्मोड़ा, नैनीताल, देहरादून, सिरमौर, टेहरी आदि बारह पहाड़ी राजाओं को जीतकर बद्रीनाथ तक अपने राज्य का विस्तार किया। महाराजा रणबहादुर शाह के पुत्र राजेन्द्र विक्रमशाह जब गद्दी पर बैठे तो उनकी अवस्था तीन वर्ष की थी, उनके मन्त्री भीमसेन थापा ही राज्य की सार सम्हार करते थे।

महाराजा पृथ्वी नारायण शाह के दरबार में एक कुँवर जंग बहादुर शाह कार्य करते थे। भीमसेन थापा की मृत्यु के पश्चात् जंग बहादुर शाह राज्य का कार्य सम्हालने लगे। अपनी बुद्धि के प्रभाव से वहाँ के महाराजा को श्री पाँच महाराजाधिराज बनाकर स्वयं राज्य के अधिकारी बन गये। कहलाने को तो वे महामन्त्री ही कहलाते थे, किन्तु वे श्री तीन महाराजा की उपाधि धारण करके राज्य के सर्वेसर्वा बन गये। तभी से नैपाल में राणाओं का शासन आरम्भ हुआ। इनके यहाँ उत्तराधिकारी पुत्र न होकर भाई होता था। जैसे सात भाई हैं। तो एक भाई के पश्चात् दूसरा, दूसरे के पश्चात् तीसरा ऐसे महामन्त्री होंगे। सब भाइयों के पश्चात् बड़े भाई का जो लड़का होगा वह होगा

फिर उसके भाई। इस प्रकार किसी के सात भाई हुए तो वह अपने भाइयों को या तो भारत भेज देता या उनकी हत्या करा देता। इस प्रकार १०४ वर्षों तक नैपाल में राणा वंश का शासन रहा। श्री पाँच महाराजाधिराज के वंश में चार राजा हुए और श्री तीन राणा वंश के महामन्त्री नौ हुए। श्री जंग बहादुर राणा से लेकर चौथे जो देवशमशेर राणा हुए उन्हीं की पुत्री हमारी चरित्र नायिका माँ मदालसा देवी थीं। महाराजा ने केवल नौ महीने राज्य किया। भाइयों की कूटनीति के कारण ये स्वेच्छा से राज्य छोड़कर भारत चले आये और देहरादून से ऊपर मंसूरी के पास झरीपानी में अपना स्थान बनाकर रहने लगे। इनके चार पुत्र तथा तीन पुत्रियाँ थीं। बड़ी पुत्री ही मां मदालसा देवी थीं। राजकुमारी मदालसा देवी अत्यन्त ही सुन्दरी थी। इनके पिता भी साधु सन्तों के भक्त थे, किन्तु उनको महारानी परम भक्ता थीं। वे दिन भर पूजा पाठ में ही लगी रहती थीं। अपने भगवान् को नित्य नई पोषाक पहिनातीं। वर्ष में ३६५ पोषाकें बदलती थीं। साधु सन्तों ब्राह्मणों का बड़ा आदर सत्कार करतीं। हमारी माँ पर अपनी जननी का ही प्रभाव अधिक पड़ा। बाल्यकाल से ही ये भगवत् सम्बन्धी खेल खेलतीं। शिरमोर नाहन की राजमाता ने मदालसा देवी को देखा तो वे इनके सौन्दर्य पर मुग्ध हो गयीं। उन्होंने अपने पुत्र के लिये इसे स्वयं माँगा और ये महारानी बन गईं। इनकी दो छोटी बहिनें एक खोरी लखीमपुर के राजघराने में, एक प्रतापगढ़ के राजघराने में विवाहीं। इनके दो पुत्रा और एक पुत्रहुए। एक पुत्री अविवाहित हो स्वर्ग सिधार गई। दूसरी प्रेमा का विवाह गुजरात के छोटा उदयपुर के महाराजा के साथ हुआ।

ये महल की रेख देख के साथ ही साथ महाराजा के साथ राज काज में भी हाथ बँटातीं। दयामयी इतनी थीं, कि सबके ऊपर दया रखतीं। एक इनकी बहिन महाराजा की छोटी रानी और थीं, वे एक बालक बालिका को इन्हें सौंपकर स्वर्ग सिधार गईं। तीन इनके बच्चे थे, दो बहिन के, तीन चार देवर के। सबको एक समान अपने बच्चों की भाँति पालती थीं। कपड़ा, लत्ता, गहना, पोपाक, खाने पीने में कोई भेद भाव नहीं, सबको सब वस्तुएँ समान रूप से देतीं। इनकी स्वर्गीया बहिन का लड़का इन्दु आठ दस वर्ष का हो गया था। किसी ने उसे देखकर कहा—"देखो, इसकी माँ मर गयी है।" तब वह रोता रोता इनके पास आया और बोला—"माँ! वह कहता है इसकी माँ मर गयी। मेरी माँ तुम तो जीवित हो?" माँ ने कहा—"वह झूठ बोलता है, तुझे चिढ़ाता है। मैं उसे दण्ड दूँगी। तेरी माँ तो मैं जीवित ही हूँ।"

यह कितनी बड़ी बात है। इनकी वह बहिन सगी नहीं थी, दासी पुत्री थी। इन महाराज की भी विवाहिता नहीं उपरानी थीं। उसकी सन्तानों को भी अपनी सगी सन्तानों के समान पालना और दश वर्ष की अवस्था तक उन्हें यह ज्ञान न होने देना कि यह मेरी सगी माता नहीं है। कितने आश्चर्य की बात है। मैंने इन सब संतानों को जब सिरमौर राज्य स्वतन्त्र था। तब देखा था। सब राजकुमार, राजकुमारी एक से ठाठ में रहते थे।

राज्य में नवरात्रों में प्राचीन प्रथा के अनुसार देवी के संमुख भैंसा का बलिदान हुआ करता था। यह बलि राज्य की ओर से राजा के द्वारा होती थी। जब इन्होंने बलिदान की बात सुनी

तो इनका दयार्द्र हृदय द्रवीभूत हो गया। इन्होंने महाराजा से प्रार्थना की—"भैंसे का बलिदान बन्द कीजिये।"

महाराज इनका अत्यधिक सम्मान करते थे। उन्होंने कहा—"देखो, यह प्रजा का काम है। हमारी वंश परम्परा से यह प्रथा चली आ रही है। इसे मैं कैसे रोक सकता हूँ। प्रजा का कुछ अनिष्ट हुआ, तो सभी मुझ पर क्रुद्ध होंगे।"

इन्होंने कहा—"चाहे जो हो, भैंसे का बलिदान नहीं होना चाहिये।"

महाराज ने कहा—"देखो, तुम हठ मत करो, यह असंभव बात है।"

आपने कहा—"यदि यह असंभव है, आप इसे नहीं रोक सकते, तो आज से मेरा आपका कोई संबन्ध नहीं।" यह कहकर ये महलों में चली गईं।"

यह कथा उन्होंने मुझे स्वयं ही सुनायी थी, कहती थीं—"मैंने तो समझा अब सदा-सदा के लिये मेरा महाराज से संबन्ध विच्छेद हो गया। किन्तु दुर्गाष्टमी हो जाने पर हँसते हुए महाराज आये और बोले—"महारानी! अब तो प्रसन्न हो जाओ। तुम्हारी ही आज्ञा का पालन हुआ। भैंसे का बलिदान नहीं हुआ। भैंसा देवी के सम्मुख गया अवश्य, किन्तु उसे जीवित ही छोड़ दिया गया। तभी से सिरमौर राज्य में सदा के लिये बलिदान बन्द हो गया।

एक भैंसा के प्राण बचाने को वे महारानी पद का भी परित्याग करने को उद्यत हो गयीं, इसी से उनके दयामय हृदय का परिचय प्राप्त होता है। महाराज अधिकांश समय इङ्गलैंड में ही रहते थे। वहीं एक राजकीय होटल में उनका स्वर्गवास हो गया।

महाराजकुमार अप्राप्त वयस्क थे। अतः राज्य अँगरेजों के संरक्षण में आ गया।

पहिले सिरमौर राज्य हरिद्वार पर्यन्त था। जब गोरखाओं ने सिरमौर राज्य पर अधिकार कर लिया था, तब भी वहाँ के महाराजा अप्राप्त वयस्क थे। जब वे बड़े हुए तब अँगरेजों से मिलकर उन्होंने पुनः राज्य हस्तगत कर लिया। अँगरेजों की जैसी नीति थी, सेना के नाम पर उन्होंने आधा राज्य ले लिया। आधा महाराज को लौटा दिया। अब जब फिर राजकुमार अप्राप्त वयस्क रह गये, तो वे अपने प्रतिनिधि (रेजीडेण्ट) द्वारा राज्य संरक्षण करने लगे। जब महाराज प्राप्त वयस्क हो गये तब अँगरेजों ने उन्हें राज्य लौटा दिया। इनके पुत्र महाराज राजेन्द्र प्रताप शाह महाराजा हो गये। माँ उन्हें प्यार से मनु कहती थीं। ये महाराज बड़े सरल, उदार, दानी त्यागी थे। किन्तु उन्हें सुरापान का व्यसन लग गया था। इससे माँ बड़ी दुखी रहतीं।

जब हमने यहाँ झूसी में पहिले ही पहिले छः महीना के लिये अखण्ड नाम जप संकीर्तन यज्ञ किया था, तो साधकों को बुलाने के लिये 'कल्याण' में कई लेख लिखे। उन लेखों को पढ़कर देश भर से बहुत से साधक आये थे। उनमें धनी निर्धन, राजकुमार, दीवान, सरकारी अधिकारी तथा सेठ साहूकार सभी श्रेणी के साधक थे। उन सबको हरे राम मन्त्र की नित्य ६४ माला जप, चार घण्टा कीर्तन करना पड़ता। सभी पंचकेशी, मौनी, फलाहारी बनकर रहते। यह अपने ढङ्ग का भारतवर्ष में नये ढङ्ग का अनुष्ठान था। इसी में कुछ दिन के लिये माँ के बड़े भाई महाराज कुमार नरेन्द्रशमशेर राणा भी सम्मिलित हुए। उन्होंने ही माँ को मेरा परिचय कराया। तभी माँ बीमार

हुईं उनके पेट की शल्य क्रिया (आपरेशन) हुआ। उनकी इच्छा थी, शल्य क्रिया के समय कोई साधु संत महात्मा मेरे सम्मुख रहें। महाराजकुमार ने मुझे आने को लिखा। किन्तु मैं नहीं गया। मुझे बड़े लोगों के यहाँ जाने में बड़ा ही संकोच होता है।

अनुष्ठान की समाप्ति के पश्चात् हम २५।३० साधकों को लेकर अखण्ड कीर्तन के सहित गंगोत्री यमुनोत्री यात्रा पर गये। मसूरी होकर ही गङ्गोत्री का मार्ग था। वहाँ पहिले ही पहिले मेरा इनसे साक्षात्कार हुआ। इन्हीं के महल में ठहरे। उन दिनों श्रीकृष्ण विरह में ये निरन्तर रोती ही रहतीं थीं। आँखों से इतने अश्रु प्रवाहित होते कि चार-चार पाँच-पाँच रूमाल इतने भीग जाते कि उन्हें निचोड़ लो। इनके एक अविवाहिता पुत्री प्रेमा (जिसे मैं कृष्णा कहता हूँ) एक भतीजी आया (जो पाछे की महाराना बनी और अब स्वर्गीया हो गयी) ये दोनों बहुत छोटी-छोटी थीं और माँ के साथ भक्ति भाव में रहतीं इनके भजनों को सुनकर, इनकी पाठ पूजा को देखकर मैं अत्यन्त ही प्रभावित हुआ। दो तीन दिन रहकर हम गङ्गोत्री यमुनोत्री गोमुख चले गये। वहाँ से लौटकर गीता प्रेस गोरखपुर में झूसी की भाँति एक वर्ष का अखंड अनुष्ठान कराया। उसमें भी माँ पधारीं और कई दिनों तक गोरखपुर में रहीं।

उन दिनों उनका अपना राज्य था। राजसी ठाठ बाठ, सेना सिपाही सब कुछ थे, किन्तु स्वयं माँ साधारण रूप से रहतीं। मुझे भी अपने राज्य नाहन में बुलाया और हमारा राजसी ढङ्ग से बहुत भारी स्वागत सत्कार किया। अब तक तो वे मुझे एक साधु समझकर ही सत्कार करतीं। अपने एक प्रिय भाई की मृत्यु से, कन्या के विधवा हो जाने से, राज्य के चले जाने से, पुत्र के सुरा के व्यसन से वे अत्यन्त ही दुखी रहने लगीं। अब

उनका चित्त घर गृहस्थियों के झंझट से ऊब गया। अब वे अधिक समय पूजा पाठ और कथा कीर्तन में ही व्यतीत करने लगीं। मेरे पास आतीं कई महीनों रह जातीं। हृदय अत्यन्त उदार, पहिले मनमाना दान धर्म में व्यय किया था, अब आर्थिक भी संकोच होने लगा। वे जब यहाँ आतीं, १०।२०।५० सहस्र बिना व्यय किये नहीं जाती थीं। कभी १०८ श्रीमद्‌भागवत करातीं। कभी यज्ञ कभी अनुष्ठान। इतना व्यय करके भी यही कहतीं— गोपाल! अब हम क्या करने योग्य रहे, कुछ भी तो कर नहीं सकते। मनमाना दान धर्म नहीं कर सकते।" इनके पुत्र महाराजा उदार थे, मातृ भक्त थे। राज्य चले जाने पर उन्हें ३।४ लाख रुपये निजी व्यय को मिलते। राजमाता को भी दो तीन सहस्र मासिक मिलते। किन्तु जिनका इतना उदार हृदय है उनके लिये इतनी धन राशि एक दिन के व्यय के लिये भी पर्याप्त न थी। महाराजा इन्हें इनकी इच्छानुसार दान धर्म को देते ही रहते। फिर भी इनका मन नहीं भरता।

हमारे यहाँ पढ़ने अत्यन्त निर्धन बालक ही आते हैं। एक लड़का कुछ ठाठ बाठ से रहने लगा। मैं उसे डाँट रहा था— "तुम्हें अपनी पूर्व की स्थिति भूलनी नहीं चाहिये। अपने पहिले दिनों को स्मरण करो।"

तब आप बड़ी सरलता से कहने लगीं—"गोपाल! हमें भी अपनी पूर्व स्थिति नहीं भूलनी चाहिये क्या?"

मैंने कहा—"माँ! तुम्हें तो पुरानी सब बातें भुला ही देनी चाहिये।"

जिन दिनों इनका अपना स्वतन्त्र राज्य था, सैकड़ों दासियाँ तो इनकी निजी सेवा में नियुक्त थीं। अब भी जब आतीं। तो १०-२० सेवक सेविकायें पहिले से ही आ जातीं। स्वच्छता

इन्हें अत्यन्त प्रिय थी। घर स्वच्छ रहे, वस्त्र स्वच्छ रहें, भोजन अत्यन्त स्वच्छता से बने। नौकर चाकर सब स्वच्छ रहें।

जब से मुझे उन्होंने पुत्र माना, तब से मुझे गोपाल ही कहतीं। किसी ज्योतिषी ने कभी उन्हें बताया होगा, भगवान् तुम्हें पुत्र रूप में मिलेंगे। तब से ये मुझे सदा गोपाल कहतीं। जब कोई पूछता—"आपकी कै सन्तानें हैं, तो मेरा नाम अपनी सन्तानों में गिनकर बतातीं।"

एक दिन बात-बात में मैं किसी से कह रहा था—"मेरे न माता हैं, न पिता, न भाई बन्धु, मैं तो सबसे हीन हूँ।"

तब तो वे चुपचाप सुनती रहीं। पीछे से बोलीं—"गोपाल! क्या मैं तुम्हारी माँ नहीं?"

मैंने कहा—"माँ! तुम माता तो हो ही।"

वे बोलीं—"तब तुम कैसे कह रहे थे, कि मेरे माता नहीं।"

मैंने अपने दोनों कान पकड़े और कहा—"माँ! अपराध हो गया, क्षमा करना।"

सचमुच मुझमें उनका सगे पुत्र की भाँति भाव था। जब उनके एकमात्र पुत्र सिरमौर के तत्कालीन महाराज की अकाल में ही मृत्यु हो गयी, तब उन्हें अत्यन्त ही आघात लगा। परन्तु उस पुत्र वियोग को बहुत ही गम्भीरता के साथ सहन किया। स्वर्गीय पुत्र की मंगल कामना के निमित्त उनके श्राद्धादि में उन्होंने लाखों रुपये व्यय किये। हमारे यहाँ उनके निमित्त उदारता से भागवत सप्ताह कराया, वृहद्भंडारा किया। श्रीआनन्दमयी माँ के यहाँ देवी भागवत सप्ताह कराया। श्रीबद्रीनाथ में, गयाजी में जाकर पिंड श्राद्ध, शैयादानादि सब विधिपूर्वक कराये।

निरन्तर सगे सम्बन्धियों और प्रियजनों की मृत्यु से उनका

हृदय पक गया था। क्रम-क्रम से माता, पिता, भाई, भतीजी जो इन्हें अत्यन्त प्रिय थे उनकी मृत्यु से तथा पति के विदेश में असमय विछोह से इनका हृदय पक गया था। राज्य के चले जाने का इन्हें इतना दुःख नहीं था, क्योंकि राज्य के अतिरिक्त देहरादून के आस-पास इनकी इतनी बड़ी रियासत थी, कि उससे लाखों की आय थी। चूहड़ पुर तक सब इनकी ही जमींदारी थी। वह भी सब सरकार ने ले ली, चाय के बगीचे भी समाप्त हो गये। चाय के कारखाने भी बन्द हो गये। एकमात्र पुत्र के वियोग का उन्हें अत्यन्त ही दुःख हुआ। एक दिन बोलीं—"गोपाल! अब मेरा श्राद्धादि कौन करेगा? तुम तो साधु हो?"

मैंने कहा—"साधु हुआ तो क्या, माँ! मैं करूँगा, तुम्हारा अन्तिम श्राद्ध।"

बोलीं—"तुम तो देश भर में घूमते रहते हो, न जाने तुम कहाँ रहे?"

मैंने कहा—"माँ! जहाँ भी रहूँगा, वहीं से तुम्हारा अन्तिम संस्कार करने आ जाऊँगा।"

इससे उन्हें बड़ा सन्तोष हुआ। तब से सबसे यही कहतीं—"अब मुझे कोई चिन्ता नहीं। गोपाल मेरा सब अन्तिम संस्कार करेंगे।"

एक दिन अत्यन्त गद्‌गद होकर कहने लगीं—"गोपाल! इस मन्दा का उद्धार कर देना। जैसे कपिल देव ने अपनी माँ देवहूति का उद्धार कर दिया था। मैं इस योग्य तो नहीं हूँ, किन्तु मुझे यही सन्तोष है, तुम जैसे समर्थ मेरे पुत्र हो।" यह कहकर बहुत देर तक रोती रहीं।"

एक दिन ऐसे ही प्रसंग चलने पर कहने लगीं—"शंकराचार्य

ने संन्यासी होने पर भी अपनी माँ का अन्तिम संस्कार किया था, ऐसे ही तुम भी मेरा कर ही दोगे ?"

मैंने कहा—"हाँ, माँ ! यदि मैं तुमसे पहिले न चला गया, तो कर ही दूँगा।"

यह सुनते ही वे अत्यन्त विह्वल हो उठीं। एकमात्र युवक पुत्र आँखों के सामने मर चुका था। जिससे अन्तिम संस्कार की आशा लगाये बैठीं थीं वह ऐसी निराशा पूर्ण बातें कह रहा है। विलम्ब उठीं और रोते-रोते बोलीं—"हाय ! गोपाल ! तुम कैसी बात मुख से निकाल रहे हो ! अब कहा सो कहा, अब कभी ऐसी बात मुख से मत निकालना।" इस बात को याद कर करके कई दिनों तक रोती रहीं। मैंने कहा—"माँ ! मैंने तो वैसे ही कह दिया। भगवान् की गति को कौन जानता है।"

गोरक्षा आन्दोलन में जब हमने शोभा यात्रा निकाली तब पैदल मेरे पीछे-पीछे चलीं। बोलीं—"गोपाल ! मैं तुम्हारे पीछे इसलिये रही, कि कोई तुम पर प्रहार करेगा, तो मैं अपने हाथों पर उसे रोक लूँगी।"

जब मैंने गोरक्षा के लिये अनशन किया तो जब तक अनशन समाप्त नहीं हुआ, वहीं डटीं रहीं। दिन भर रोती ही रहतीं थीं। उस समय सभी को विश्वास था, मेरी मृत्यु ही हो जायगी। परन्तु ये इतनी धर्मभीरु थीं कि एक दिन भी उन्होंने मुझसे अनशन त्यागने को नहीं कहा।

किसी ने पूछा भी—"तुम्हारा पुत्र मर गया, तो माँ ! तुम्हें कैसा लगेगा ?"

बड़े साहस से बोलीं—"भगवान् की इच्छा को कौन टाल सकता है। भगवान् न करें ऐसा हो। यदि ऐसा ही होगा, तो मैं

सन्तोष करूँगी, मेरे एक पुत्र ने गोरक्षा के लिये, धर्म के लिये प्राण दे दिये। मैं इसे अपना सौभाग्य समझूँगी।"

मेरे अनशन त्यागने पर वे अत्यन्त ही प्रसन्न थीं। उनका सभी के प्रति अगाध स्नेह था। हमारे यहाँ के सभी बच्चों से वे अत्यन्त स्नेह करतीं। सबको नित्य नूतन-नूतन वस्तुएँ मँगाकर बाँटा करतीं। जो जितना ही अधिक खाता, उससे उतनी ही अधिक प्रसन्न होतीं। मुझसे कहतीं—"गोपाल! मैं सुनती हूँ, लोग पाँच-पाँच सेर खा जाते हैं, ऐसे खाने वालों को मेरे पास लाओ। उन्हें मैं खिलाऊँगी। जो कहोगे दक्षिणा दूँगी। मैं किसी को लाता और कहता—"माँ! ये ढाई सेर रसगुल्ला खा लेते हैं।"

तुरन्त कहतीं—"जनार्दन! ढाई सेर रसगुल्ला लाओ।" बड़े प्रेम से खिलातीं, १०-५ रुपये ऊपर से देतीं। उन्हें खिलाने में, बच्चों को वस्तुएं बाँटने में सबसे अधिक प्रसन्नता होती।

स्वर्ग से इस लोक में लौटने वालों के शरीर में चार चिन्ह शेष रह जाते हैं। (१) दान देने में अत्यन्त प्रसन्नता (२) मीठी वाणी, (३) देव पूजन में अत्यन्त प्रीति और (४) ब्राह्मणों को तृप्त करने में सुख की अनुभूति।* उनमें ये चारों चिन्ह सोलहू आने थे। दान देने से उन्हें तृप्ति नहीं होती थी। एक बार जब मैंने वृन्दावन में एक वर्ष का गो व्रत किया था। उस समय मैं केवल गो दुग्ध ही लेता था, गौओं को जंगल में ले जाकर चराया करता

---

* स्वर्गस्थितानामिह जीव लोके,
चत्वारि चिन्हानि वसन्ति देहे।
दान प्रसङ्ग मधुरा च वाणी
देवार्चनं ब्राह्मण तर्पणं च॥

था। उसकी समाप्ति पर उनकी इच्छा थी, मेरी ही ओर से भंडारा हो, गोपाल पहिले पहिल मेरा ही अन्न ग्रहण करें।

एक दिन पूछा—"गोपाल ! तुम्हारे व्रत समाप्त होने वाले भंडारे में क्या व्यय होगा ?"

मैंने कहा—"माँ ! ये ही १०-५ सहस्र रुपये।"

बोलीं—"तो गोपाल ! वह भंडारा कृष्ण भंडार की ही ओर से होगा।"

मैंने कहा—"अच्छी बात है।"

कानपुर वाली माँ जी (सर पद्मपति सिंहानिया की माता) उनका भी मेरे प्रति वात्सल्य स्नेह था। वे भी समय समय पर मेरे प्रत्येक कार्यों में सहस्रों रुपये व्यय किया करतीं। वर्ष में कितने सहस्र मेरे कामों में व्यय करतीं मुझे स्मरण नहीं। दस-बीस सहस्र व्यय करके भी कहतीं—"इनके इतने भारी समुद्र में मेरे ये दश-बीस सहस्र एक बूँद के भी समान नहीं हैं।"

गोव्रत में मेरा शरीर अत्यन्त ही कृश तथा कृष्णवर्ण का हो गया था। मैं उन दिनों टाट ही पहिनता था। माँजी को इससे बड़ा क्लेश होता था, रो-रोकर कहतीं—"यह तुमने कैसा व्रत ले रखा है। मैं एक-एक दिन गिनती रहती हूँ, कब व्रत समाप्त हो।" अच्छे से अच्छा टाट मेरे लिये भेजतीं। टाट के भीतर रुन लप भर कर गद्दा, तकिया बनाकर भेजतीं। उन्होंने भी संकल्प किया होगा, अन्तिम भंडारा मेरी ओर से हो। माँ के कहने के पश्चात् उन्होंने भी पूछा—"महाराज ! तुम्हारे अन्तिम भंडारे में क्या व्यय होगा ?"

मैंने कहा—"माँजी ! भंडारे की क्या बात है। जितना चाहो व्यय कर दो।"

वे बोलीं—"तो भी तुम्हारा अनुमान क्या है ?"

मैंने कहा—"ये ही १०-५ हजार होंगे।"

तो बोलीं—"तो यह मेरी ओर से होगा ?"

मैंने सोचा—"अधिकस्य अधिकं फलम्" दोनों की ओर से हो जाय। मैंने कह दिया—"अच्छी बात है।"

जब माँ ने सुना कि अन्तिम भंडारा कानपुर वाली माँ की ओर से होगा, तो मेरे पास आईं और बोलीं—"गोपाल ! मैंने तुमसे कहा था, अन्तिम भंडारा श्रीकृष्ण भंडार की ओर से होगा और तुमने इसकी स्वीकृति भी दे दी थी।"

मैंने कहा—"सो तो होगा ही।"

वे बोलीं—"सुन रही हूँ, कानपुर वाली सेठानी की ओर से होगा।"

मैंने कहा—"माँ ! हानि क्या है, दोनों मातायें भंडारा भली-भाँति से जोड़ तोड़ से करें। दोनों का हो।"

यह सुनकर रोती हुई बोलीं—"गोपाल ! अब मैं कानपुर वाली की बराबरी करने योग्य तो रही नहीं। वे बड़े आदमी हैं। किन्तु मेरी इच्छा है इस भंडारे में और किसी का पैसा भी न लगे। सब श्रीकृष्ण भंडार की ओर से ही हो।"

मैंने कहा—"माँ ! ऐसा ही होगा। माँ जी को मैं मना कर दूँगा। मेरी तो तुम दोनों ही माँ हो। पहिले तुमने कहा है, तुम्हारा अधिकार सर्वप्रथम है।"

मैंने कानपुर वाली माँ जी से कहा—"माँ जी ! राजमाता कह रही हैं—"वह भंडारा मेरी ही ओर से होगा। आप दूसरे दिन कर लेना।"

माँ जी बड़ी बुद्धिमति व्यवहार कुशल और प्रत्युतपन्नमति थीं, बोलीं—"अच्छा तो है, राजमाताजी की ही ओर से हो, मैं फिर कर लूँगी।"

ऊपर से तो उन्होंने प्रसन्नता प्रकट करते हुए ऐसा कह दिया, किन्तु उनकी हार्दिक इच्छा थी, व्रत के पश्चात् महाराज सर्वप्रथम मेरा ही प्रसाद ग्रहण करें। व्रत की समाप्ति गोवर्धन में गिरिराज की परिक्रमा के अनन्तर कुसुम सरोवर पर होने वाली थी। आन्योर से पहिले जो आवले के पेड़ हैं उन आवलों के पेड़ पर चढ़कर आँवला खाकर व्रत की समाप्ति करनी थी। यह चैत्र की पूर्णिमा की बात है, उसी दिन वर्ष पूरा होना था। पेड़ों पर हमने आँवले रुकवा रखे थे। श्रीजयदयालजी डालमिया तथा अन्य लोग आँवलों के पेड़ों पर चढ़ गये और आँवला तोड़ तोड़कर सब खाने लगे। इस प्रकार आँवला खा लेने पर केवल दूध पीने का नियम समाप्त हो गया। हमारी कानपुर वाली माँ जी ने कितनी बुद्धिमानी का काम किया। उन्होंने अपने पंडों से कहकर हमसे पृथक् गोवर्धन में छप्पन भोग लगवाये, गिरिराज का पूजन करके छप्पन भोग का प्रसाद लेकर बड़ी बहू (श्रीपद्मपतिजी की पत्नी) के साथ जतीपुरा पहुँच गयीं और बोलीं—"महाराज! आँवला खाने पर आपका व्रत तो समाप्त हो ही गया। आज हमने गिरिराज को छप्पन भोग लगाये हैं, उसका प्रसाद लायी हूँ, प्रसाद पा लोगे न?"

अब गिरिराज के प्रसाद को मैं कैसे मना करता। मैंने प्रसाद पा लिया। माँ जी को अत्यन्त हार्दिक प्रसन्नता हुई और राजमाता को भी बुरा नहीं लगा। उन्हें जाकर प्रसाद दे आयीं, इसी का नाम है व्यवहार कुशलता।

गिरिराज में जो छप्पन भोग का भंडारा हुआ वह तो अवर्णनीय था। कोई भी कहीं का आकर प्रसाद पा जाओ। किसी को रोक टोक नहीं। आसपास के गाँवों के सहस्रों की संख्या में प्रसाद पाने आने लगे। गोवर्धनजी ने प्रसाद को इतना अनन्त कर दिया कि

सबको प्रसाद पवाने के अनन्तर लगभग दो सहस्र आदमियों के लिये प्रसाद बच गया, जिसे गाड़ियों में भरकर गाँवों में बाँटा गया।

कलकत्ते के एक भालोटियाजी थे, उन्होंने अपनी ओर से चुपके से लगभग दो सहस्र रुपये की भाँति-भाँति की मिठाइयाँ बनवा कर भोग में लगवायीं। मुझे कुछ पता नहीं था। पं० बनवारी लालजी शर्मा ने यह प्रबन्ध किया। कई दिनों के पश्चात् बोलीं—"गोपाल ! मैंने कहा था, भंडारे में अन्य किसी का व्यय न हो।"

मैंने कहा—"दूसरों का एक पैसा भी व्यय नहीं हुआ, सब श्रीकृष्ण भण्डार का ही लगा।"

वे बोलीं—"वह जो भोग में भाँति-भाँति की मिठाइयाँ बनी थीं, सुना है वह कलकत्ते के किसी सेठ की ओर से बनी थीं, कृष्ण भंडार से उसका रुपया नहीं दिया गया।"

मैंने कहा—"माँ ! इसका मुझे तनिक भी पता नहीं। यदि ऐसी बात है,तो मैं अभी पुछवाता हूँ। शर्माजी को बुलाया गया। उनसे पूछा तो उन्होंने बताया, हाँ भालोटियाजी की ओर से दो हजार रुपये की मिठाइयाँ भोग में लगीं। वे आधी ले गयीं,आधी वहाँ बाँट दी गयीं।"

मैंने कहा—"मुझसे पूछा क्यों नहीं ?"

वे बोले—"महाराज इतने व्यस्त थे, परिक्रमा में थे, कि मुझे पूछने का अवसर ही नहीं मिला। अकस्मात् रास का और भोग का कार्यक्रम बन गया।"

मैंने कहा—"अभी भालोटिया को दो हजार रुपये दे आओ।"

उन्होंने रुपये हाथ में ले लिये और बोले—"मेरा एक सुझाव है, राजमाता साहिबा को यदि स्वीकार हो तो कहूँ ?"

मैंने कहा—"कहिये, क्या सुझाव है ?"

वे बोले—"रुपये तो मैं उन्हें लौटा आऊँगा, किन्तु यह अच्छा न लगेगा। उन्होंने तो अलग से किया था, अलग प्रसाद बाँटा था, हमारे भंडार में तो उसे सम्मिलित किया नहीं। गिरिराज सबके हैं, सब उनको भोग लगा सकते हैं। कानपुर वाली माँ जी ने भी अपना पृथक भोग लगवाया था। इतने पर भी राजमाता को सन्तोष न हो, तो यहाँ वंशीवट विहारी का फिर से छप्पन भोग इन रुपयों का लग जाय।"

कृष्णा (माँ की पुत्री) के आग्रह पर माँ ने इस प्रस्ताव को स्वीकार किया। वंशीवट विहारी का फिर से छप्पन भोग लगा। भंडारा हुआ। ऐसी थी उनकी दान की प्रवृत्ति। दस बीस हजार को तो वे दस बीस पैसे के बराबर भी नहीं मानती थीं।

वाणी उनकी इतनी मीठी थी, कि क्रोध में भी बोलती थीं तो मानो फूल झड़ रहे हों। जिससे बोलतीं—पहिले बेटा कहतीं। बीच में दश बार उसे बेटा-बेटा कहकर सम्बोधन करतीं। नौकरों पर भी वे सदा दया रखतीं, उनकी अपनी सन्तानों के समान देख रेख रखतीं, मैंने बड़े बड़े राजा महाराजों, रानी राजमाताओं के देखा है। उनके बीच रहा हूँ। ऐसा मधुर बर्ताव, ऐसी आत्मीयता, ऐसी मिठास किसी में भी देखने को नहीं मिली। वाणी इतनी मधुर थी मानों कोकिला कूज रही हो। एकदम भोले बच्चे जैसा स्वभाव। किसी बात को सुनकर आश्चर्य के साथ पूछतीं—"अच्छा, ऐसा है, मैं नहीं जानती।" किसके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये, शिष्टाचार की तो वे सजीव प्रतिमा थीं। शास्त्र का वचन है, दातृत्व, प्रियवक्तृत्व,

धीरत्व और उचितज्ञता ये अभ्यास से नहीं आते। ये चार गुण सहज-जन्मजात–किसी-किसी में होते हैं।* उनमें ये चारों गुण जन्मजात थे। वे बहुत ही धीर गम्भीर और प्रभावशालिनी थीं। इतना होने पर भी वे समय-समय पर ऐसा मीठा विनोद करतीं कि आदमी हँसते-हँसते लोट पोट हो जाते।

वृन्दावन की बात है, मेरे सामने बैठकर बातें कर रही थीं। उनकी एक बहुत सुन्दरी दासी सामने खड़ी थी। एक बहुत सुन्दर लड़का उसकी ओर मुँह बना रहा था।

मैंने कहा—"माँ देखो, यह रामजी उसकी ओर मुँह बना रहा है।"

यह सुनकर मन्द मुस्कराहट के साथ चुप हो गयीं। कुछ भी नहीं कहा।

दूसरे या तीसरे दिन हम जीने से उतर रहे थे। वह लड़का भी मेरे साथ था, माँ ने बड़े प्यार से उससे पूछा—"बेटा! तेरी क्या अवस्था होगी?"

उसने कहा—"माँ जी! सोलह वर्ष की।"

तब आप बड़ा मुँह बनाकर बोलीं—"छीः छीः यह लड़की तो बत्तीस वर्ष की है। दो बार भाग चुकी है, उसे अमुक-अमुक रोग हैं। मैं यह सुनकर हँसते-हँसते लोट-पोट हो गया, वहीं गिर पड़ा। उस लड़के को तो काटो तो रक्त नहीं। उसे मानों सर्प सूँघ गया हो। उसका मुँह बनाने में कोई बुरा भाव नहीं था, बाल सुलभ चांचल्य वश ही उसने ऐसा किया। किन्तु उसे कैसे सुन्दर ढङ्ग से शिक्षा दे दी। तब से मैंने उस लड़के की यह

---

* दातृत्वं प्रियवक्तृत्वं धीरत्वं उचितज्ञता।
अभ्यासात् नैवलभ्यन्ते चत्वारो सहजागुणा॥

चेंक ही डाल ली। उससे पूछता—"बेटा ! तुम्हारी क्या अवस्था होगी ?"

वह हँसकर उत्तर देता—"माँ जी ! १६ वर्ष। ऐसी एक नहीं सैकड़ों घटनायें हैं। स्थल संकोच से यहाँ उन सबका उल्लेख नहीं कर सकते।"

इनके पुत्र स्वर्गीय महाराज नाहन नरेश में एक बुरा व्यसन सुरापान का पड़ गया था। वैसे वे बड़े सरल, शिष्ट, उदार, तथा मातृभक्त थे। माता की किसी भी आज्ञा को टालते नहीं थे। वे मुझसे हाथ डेढ़ हाथ लम्बे थे। उन्हें सौन्दर्य अपनी माँ से और लम्बापन अपने पिता पितामह से प्राप्त था। माताजी से सदा हँसते रहते। माँ भी उन्हें अत्यधिक प्यार करतीं। वे माँ से कहते—"माँ! ज्योतिषी ने जो पुत्र रूप में तुम्हें कृष्ण प्राप्ति को कहा था—"वह कृष्ण मैं ही हूँ, मेरी पूजा करो, मुझे ही भोग लगाओ।"

माँ कहतीं—"चल हट, आया कहीं का कृष्ण बनने।"

तब आप कहते—"अरी, माँ ! तुम मेरा स्वरूप नहीं जानतीं मैं ही श्रीकृष्ण हूँ।" माँ बेटे में ऐसी ही प्रेम की भक्तिभाव की बातें होती रहतीं।

एक दिन उन्होंने माँ से पूछा—"माँ! श्रीकृष्ण बड़े थे या बलदेवजी ?"

माँ ने कहा—"अरे, मनु ! तू इतना भी नहीं जानता ? बलदेवजी बड़े थे, श्रीकृष्ण छोटे थे।"

तब आप बोले—"तो, माँ ! हम दोनों भाइयों में महाराजजी बड़े हैं मैं छोटा हूँ। महाराज को बलदेव कहा करो, मुझे श्रीकृष्ण मानकर पूजा करो। मुझे ही गोपाल कहा करो।"

मुझसे वे अत्यन्त स्नेह रखते, कभी भी मेरे सम्मुख उन्होंने

अपना बड़प्पन प्रकट नहीं किया। कुलीनता, शिष्टता, दानशीलता, उदारता तो इन राजाओं के साथ चली गयी। अब ये जो अकुलीन, अशिष्ट, लोभी, कृपण शासक हुए हैं, ये कलाकारों को, साधु सन्तों को तथा विद्वानों को आश्रय देना क्या जानें। ये छोटे-छोटे राजा भी देते समय लाख से नीचे कहना अपना अपमान समझते थे। इन शासकों में इतनी दानशीलता कहाँ? एक बार काशी वाराणशेय विश्वविद्यालय में किसी बालिका के संगीत पर प्रसन्न होकर राष्ट्रपति ने उसे पाँच रुपये पारितोषिक दिये। लड़की ने वे रुपये उठाकर फेंक दिये। इनमें दातृत्व शक्ति रही ही नहीं। यह तो वंश परम्परा की सम्पत्ति है। राजा कितने उदार मन होते थे–इसका एक दृष्टान्त सुनिये—

आगरे में एक बार क्षत्रियों की सभा हुई। उसके सभापति थे अवागढ़ के राजा बलवन्त सिंह जी। प्रस्ताव यह था, कि सब जाति वालों के महाविद्यालय बन रहे हैं, क्षत्रियों का भी एक महाविद्यालय बने। प्रस्ताव पारित हो जाने पर चन्दा लिखने की पारी आयी। सभा के मन्त्री ने कहा—"पहिले सभापति ही बतावें।"

अवागढ़ नरेश ने कहा—"दस सहस्र मेरे लिख लो।"

मन्त्री ने कहा—"सब अपने हाथों से ही द्रव्य की राशि लिख दें।"

राजा साहब विशेष पढ़े लिखे नहीं थे। उन्होंने एक के आगे चार शून्यों के स्थान पर पाँच शून्य रख दिये।

मन्त्री ने कहा—"सभापति की ओर से एक लाख रुपये।

राजा साहब ने कहा—"मैंने तो दस हजार कहे थे।"

मन्त्री ने कहा—"सरकार ने अपने कर कमलों से एक लाख

लिखे हैं। देखिये इकाई, दहाई, सैकड़ा, हजार, दस हजार, और यह लाख।

राजा हँसकर बोले—"अच्छा, मैंने एक लाख लिख दिये कोई बात नहीं, महाविद्यालय में सब कितने रुपये लगेंगे ?"

मन्त्री ने पाँच या दस लाख बताये। तो राजासाहब बोले—"तब चन्दा करने की क्या आवश्यकता। सब मैं ही दे दूँगा।"

आज आगरे का श्रीबलवन्त कालेज उनकी उदारता, दानशीलता का परिचय देते हुए चल रहा है। जिसकी देख देख स्वर्गीय महाराज के छोटे पुत्र राव साहब कृष्णपालसिंह जी कर रहे हैं। उनके बड़े भाई स्वर्गीय महाराज के पुत्र राजा साहब कुशलपाल सिंहजी कुछ विचित्र मस्तिष्क के थे। सुना, वे भी स्वर्गवासी हो चुके हैं। एक बार श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर की विश्व भारती को देखने गये। वहाँ उन्होंने सब दिखलाया। वे चाहते थे हिन्दी भवन को राजा साहब दस हजार रुपये दे दें।" उन्होंने विश्व भारती को एक पैसा भी नहीं दिया। लोगों ने कहा—"विश्व भारती पर ऋण हो गया है।" उन्होंने पूछा—"कितना ऋण हो गया है ?"

वहाँ वालों ने बताया—"तीन लाख ऋण है।"

यह सुनकर आप चले आये। अवागढ़ आकर तीन लाख का चेक भेज दिया। वे कुछ-कुछ सनकी भी थे, एक बार मेरे बुलाने पर झूसी संकीर्तन भवन में हजारों रुपये व्यय करके अपनी मण्डली बैंड बाजे के साथ पचासों आदमियों को लेकर आये। हमने ठहरने का प्रबन्ध एक धर्मशाला में किया। वहाँ जैसी वे चाहते थे स्वच्छता नहीं थी। तुरन्त अपने दल को लेकर झूसी स्टेशन पर आ गये। गाड़ी आने में दो तीन घन्टे की देरी थी।

स्टेशन पर टहलते रहे। मेरे पास नहीं आये। लोगों ने कहा—राजा साहब लौटकर जा रहे हैं।"

मैंने कहा—"जाने वाले को कौन रोक सकता है। जाते हैं तो जाने दो।" मैं तो गया नहीं। रेल आने पर वे लौट गये। उनके भाई रावसाहब बहुत ही शिष्ट सज्जन हैं। वंशीवट वृन्दावन वाला हमारा संकीर्तन भवन पहिले अवागढ़ की कुञ्ज ही थी। राव साहब से ही हमने उसे खरीदा। उन्होंने अत्यन्त ही संकोच और विवशता के साथ मूल्य लिया वह भी नाम मात्र का मूल्य। अवागढ़ के कोई राजा भी नहीं थे। साधारण जमींदार थे। राजा की पदवी थी। स्वतन्त्र राजा तो और भी उदार, धार्मिक और दानी होते थे। इस प्रकार राजाओं में तो व्यसन तथा दुराचार बहुत बढ़ गये थे। नहीं तो बहुत से राजा सुन्दर शासक, न्याय प्रिय, उदार, प्रजावत्सल और धर्म प्रिय थे। सिरमौर के शासक अपनी सत्यता, न्याय प्रियता और निर्लोभता के कारण प्रजा के सदा आदर भाजन बने रहे। समस्त प्रजा के जन उन्हें ईश्वर की भाँति पूजते मानते थे। इन महाराज के पितामह राज्य से २०० या ३००) महीना वेतन लेते थे। इसके अतिरिक्त राज्य का एक पैसा भी अपने कार्यों में व्यय नहीं करते थे। माँ बतलाती थीं कि हमारे श्वसुर को एक कोट बहुत अच्छा लगा। दुकानदार के पास जाते उसकी कीमत पूछकर लौट आते। कोट की कीमत दो सौ रुपये थी।

एक दुकानदार ने कहा—"सरकार! कोट ले क्यों नहीं जाते?"

महाराज ने कहा—"भैया! मेरे पास इतने रुपये बचते ही नहीं। इसका मूल्य कहाँ से दूँ, यही मुझे चिन्ता है।"

जब समस्त राज्य भारत सरकार ने अधिग्रहण कर लिये तब

सिरमौर ही ऐसा एक राज्य था जिसका लेखा जोखा हिसाब किताब सर्वथा ठीक था। ये महाराज भी प्रजा के अत्यन्त प्रिय थे। राज्य के चले जाने पर भी जब ये नाहन छोड़कर देहरादून आकर रहने लगे थे तब भी प्रजा के लोग आते और भेंट चढ़ाकर दर्शन करके चले जाते। छोटे छोटे किसानों की गाय भैंस बीमार हुई, तो वे मानता मानते—"हे महाराज! हमारी भैंस अच्छी हो जायगी तो हम आप पर सवा रुपया चढ़ावेंगे।" भैंस अच्छी हो जाने पर इतनी दूर देहरादून पैदल आकर सवा रुपया चढ़ाकर प्रणाम करके लौट जाते। ऐसे थे ये सिरमौर के महाराजाधिराज। महाराजाधिराज इसलिये कि पहाड़ी छोटे-छोटे राजाओं का जब तक सिरमौर के महाराजा राजतिलक नहीं कर देते तब तक वे राजा नहीं कहाते थे। गुरुगोविन्द सिंह को मुसलमानों के विरुद्ध सिरमौर महाराजा ने ही आश्रय दिया था। वे बहुत दिनों तक सिरमौर राज्य के यमुना किनारे पाउटे में रहे। जो अब भी वहाँ पाउँटा साहब के नाम से गुरुद्वारा बना है, जिसमें गुरुगोविन्द सिंह की तलवार रखी है।

इन महाराज में भी अपने अनेकों पैतृक गुण थे। कुम्भ के अवसर कुछ दिनों तक मेरे पास आकर झूसी में रहे। तब माँ यहाँ एक बहुत बड़ा यज्ञ कर रही थीं। अपने मामा को एक ओर करके बीच में मुझे कर लेते और कहते—"हम दोनों महाराजजी के अंग रक्षक (वोडीगार्ड) हैं। अत्यन्त ही विनोद प्रिय और व्यवहार कुशल थे। रात्रि में ही पीते थे, किसी को प्रतीत नहीं होने देते थे। मुझसे तो थोड़ा संकोच करते, किन्तु कोई हँसने को मिल जाय, तो दिन भर उससे हँसते रहते, बातें करते रहते।

एक दिन हम और वे त्रिवेणी स्नान को जारहे थे। हमारे

वृन्दावन के स्वामी चक्रपाणि जी भी थे। उनसे वे बहुत हँसी किया करते। उस समय संगम क्षेत्र में कोई बिना टीका लगवाये जा नहीं सकता था। मैंने टीके का बहुत विरोध किया। सत्याग्रह करने की भी घोषणा की। किन्तु मेरी बात चली नहीं। सरकार ने टीके का प्रतिबन्ध उठाया नहीं। हाँ सबको सूचित कर दिया ब्रह्मचारी जी से कोई टीके का प्रमाण पत्र न माँगे। प्रवेश द्वार पर पुलिस ने हमारी मोटर रोककर टीके का प्रमाण पत्र माँगा। ये देहरादून से अपने तथा नौकरों के जैसा होता है, दश बीस बनावटी प्रमाण पत्र बनवा लाये थे। इन्होंने अपना तथा अपने साथियों के प्रमाण पत्र दिखा दिये। तब देखने वाले ने कहा—"ब्रह्मचारीजी के लिये तो हमें आज्ञा है। इनका (चक्रपाणिजी का) प्रमाण पत्र कहाँ है ?"

तब आप बड़ी गम्भीरता से बोले—"अरे, भाई ये तो साधु हैं ?"

उसने कहा—"साधू फादू कोई हों सबको प्रमाण पत्र दिखाना होगा।"

तब आप बोले—"भाई, ये तो मौनी हैं।"

उसने कहा—"चाहें मौनी हों या फौनी, प्रमाण पत्र दिखाना ही होगा।"

तब आपने अपनी जेब में हाथ डाला उसमें किसी दासी के नाम का प्रमाण पत्र पड़ा था। उसे निकालकर दिया, कि इनका यह प्रमाण पत्र है।"

उसने उसे पढ़ा और कहा—"यह तो अमुक देवी का है किसी स्त्री के नाम का है।"

तब आप बड़ी गम्भीरता से बोले—"अरे, भाई ये वृन्दावन की हैं, सखी सम्प्रदाय की हैं, इनके ऐसे ही नाम होते हैं।"

हँसी के मारे मेरी बुरी दशा थी। हँसते-हँसते मैं तो लोट पोट हो गया, किन्तु वे तनिक भी न हँसे। मोटर के सभी लोग हँसने लगे। अपनी इस प्रकार हँसी बढ़ते देखकर स्वामीजी मोटर से कूदकर जो मुट्ठी बाँधकर भागे, तब आप भी खिल-खिलाकर हँसने लगे। ऐसे थे वे हास्य प्रिय महाराजा। माँ भी अत्यन्त ही हसमुख थीं, किन्तु महाराज की मृत्यु के पश्चात् उनकी हँसी जाती रही। वे आवश्यकता से अधिक गंभीर हो गई थीं।

बहुत वर्ष पहिले उन्होंने यहाँ आश्रम में वट, पीपर, पाकर, आम और जामुन के पाँच पंचवटी के पेड़ लगाये थे। उनमें से एक पेड़ बचा है, सब सूख गये। दो वर्ष पहिले जब आयी थीं, तो कई महीने यहाँ रहीं। एक दिन बोलीं—"गोपाल! मेरे हाथ से पेड़ लगते क्यों नहीं हैं ?"

मैंने कहा—"माँ! अब के लगाओ, लग जायँगे। तब उन्होंने पीपर, आम, जामुन के पेड़ लगाये। पीपर लगाते हुए मैंने हाथ लगा दिया, तो बोलीं—"गोपाल ने हाथ लगा दिया, तो अवश्य लग जायगा। हमने बगीचे के उस मार्ग का नाम उनके नाम से 'मदालसा मार्ग' रख दिया। एक खुदवाकर पत्थर भी लगवा दिया। अब जब वह पीपर बढ़ गया, तब मैंने लिखा—"माँ! तुम्हारा पीपर लहलहा रहा है, बगीचा भी सुन्दर हो गया है, तुम आकर देखोगी तो प्रसन्न होगी।"

उनके बार बार पत्र आते। गोपाल! मैं आने को तैयार बैठी हूँ। यहाँ आकर अबके बहुत रहूँगी। तुम्हारे वृक्ष के फलों को खाऊँगी। तभी उनके निजी सचिव जबरसिंह भण्डारी (जिन्हें माँ जनार्दन कहती थीं) एक घटना में बुरी तरह आहत हो गये। उनके पैर की कूल्हे की हड्डियाँ टूट गयीं। वे ही उनके हाथ पैर

उनके बिना वे कैसे आ सकती थीं। उनके बार-बार पत्र आते-जाते जनार्दन के अच्छे होते ही मैं आ जाऊँगी। एक बार तो अकेले ही आने को उद्यत हुईं, किन्तु उनके सगे सम्बन्धियों ने उन्हें आने नहीं दिया।

वे भगवान् के ही सम्बन्ध की बातें करतीं। भगवत् सम्बन्धी ही शब्द उच्चारण करतीं। सभी नौकर नौकरानियों के उन्होंने नाम बदल दिये थे। जैसे जबर सिंह है तो उसका नाम जनार्दन रख दिया। दीपसिंह है तो दीनदयाल। राम, कृष्ण गोविन्द, अच्युत, केशव ऐसे ही नाम नौकरों के और प्रिया, कृष्णा, राधा, सीता ऐसे नाम नौकरानियों के रख छोड़े थे। सबसे सम्बन्ध लगाकर ही बर्ताव करतीं। वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन वाले पं राम-दयालजी जोशी हमसे अत्यन्त स्नेह करते थे। वे आकर जब माताजी माताजी कहने लगे, तब बोलीं—"अब सब लोग मुझे माताजी ही कहोगे। रामदयाल! तुम मेरे भैया हुए।" उनसे सगे भाई का-सा व्यवहार करतीं। उनकी पुत्री कृष्णा कहती—"माँ छोटे-छोटे लोगों को भाई बना लेती हैं। उन्हें मामा कहने में मुझे लाज लगती है, किन्तु क्या करूँ, जब माँ उन्हें भाई कहती हैं, तो मुझे मामा कहना ही पड़ता है।" लड़का लड़की कोई हो सब को बेटा ही कहतीं। उर्मिला को बहुत अधिक प्यार करतीं। अपनी पुत्री कृष्णा को 'श्री' कहकर पुकारतीं। कहतीं—"जैसी श्री मेरी बेटी है वैसी ही उर्मिला है। मान, सम्मान, दान, पुत्री की ही भाँति करतीं। जब कला उन्हें माताजी कहती तब मीठी घुड़की देकर कहतीं—"कला! तू तो मेरी छोटी बहिन है मुझे माताजी क्यों कहती है?"

कला कहती—"बड़ी बहिन माता के ही समान होती है।" उनकी पुत्री कृष्णा, उनके समस्त नौकर चाकर सगे सम्बन्धी,

को 'मौसी' ही कहते। वे सभी से आत्मीयता का सम्बन्ध रखतीं।' आश्रम में जब आकर रहने लगतीं, तो प्रेम का प्रवाह बहने लगता। आश्रम के सभी बच्चों के सिर पर हाथ फेरतीं। उनके नाम पूछतीं, और कहतीं—"विवाह तो नहीं करोगे ?" जो बच्चा यह कहता—"हाँ, माताजी ! हम विवाह नहीं करेंगे। महाराजजी की ही सेवा में रहेंगे।" उनसे बहुत प्रसन्न रहतीं। कहतीं—"विवाह में क्या रखा है। भगवान् का भजन करो। गोपाल की सेवा करो।"

बार-बार उनके भूसी आने के पत्र आने से सभी बड़े प्रसन्न थे, सभी उनके आने की प्रतीक्षा कर रहे थे, कि एक दिन अकस्मात् उनके यहाँ से तार आया—"कि माताजी के बहुत पीड़ा है।"

मैंने तुरन्त रामराज को देहरादून भेजा। वे ६ महीने मसूरी ही रहती थीं। देहरादून की गर्मी वे सहन नहीं कर सकतीं थीं। थोड़े दिन पहिले ही मसूरी से लौटी थीं, यहाँ आने की तैयारी कर रही थीं। रामराज से मैंने कह दिया—"माँ की जैसी दशा हो दूरभाप (फौन) से उसकी सूचना मुझे देना।"

रामराज पहुँचा, तब वे कुछ अच्छी हो चुकी थीं। रामराज से बातें कीं, मेरा दिया प्रसाद लिया। भस्म को मस्तक पर लगाया। स्वयं हाथ धोये। फिर अकस्मात दशा बिगड़ने लगी। रामराज का फौन आया—"माँ की दशा गम्भीर है आप तुरन्त आवें। माघ का महीना था, नियम से त्रिवेणी स्नान कर रहा था, भागवती कथा लिखने के कारण बाहर कहीं न जाने का नियम भी था। किन्तु माँ को मैं वचन दे चुका था, कि कैसे भी नियम में हूँगा, तुम्हारे अन्तिम समय में अवश्य आऊँगा। मैं रात्रि में तीन बजे के लगभग पहुँचा। माघ शुक्ला तृतीया को ही

मध्यान्ह में २॥ बजे वे चल बसी थीं। वहाँ जाकर मैंने देखा—"माँ चिरनिद्रा में सो रही हैं, सगे सम्बन्धी उनके शव के समीप बैठे कीर्तन कर रहे हैं। माँ के मुख पर मृतक पने के कोई चिह्न नहीं, मानों वे गम्भीर मुद्रा में शयन कर रही हों। प्रातःकाल तक मैं उनके समीप बैठा भगवन्नाम कीर्तन करता रहा। प्रातः काल होते ही मैं सहस्र धारा स्नान को चला गया। सबको सूचना दे दी गयी। विधि का विधान तो देखिये, जिन लोगों को पुत्र पुत्री की भाँति पाला पोसा। उनमें से पुत्री कृष्णा को छोड़कर कोई उनके पास नहीं था। दो पुत्र बधुएँ थीं, उनमें से एक भी वहाँ नहीं थीं। जयपुर की महारानी उनकी पौत्री थीं, वह भी नहीं। कटा पत्थर वाले भाई जिन्हें वे अत्यधिक प्यार करती थीं वे भी नहीं। जिस इन्दु को सगे पुत्र की भाँति पाला वह भी नहीं था बम्बई चला गया। जिस भतीजी शिवा को सदा समीप ही रखतीं वह भी नहीं थी। जिस भाभी को बिना लिये कहीं जाती नहीं थीं। वे ८० वर्ष की देह फूल जाने से नीचे उतर नहीं सकती थीं, वे समीप में रहते हुए नहीं आ सकतीं थीं। जिस जनार्दन के बिना पल भर नहीं रहती थीं वह हड्डियों के टूटने से पलस्तर बाँधे शैया पर पड़ा रुदन कर रहा था। उसका तो सर्वस्व ही लुट गया। उसे माँ से भी अधिक प्यार मिलता था, परिवार भर का पालन होता था, आज वह निस्सहाय हो गया। केवल कृष्णा और दो एक लड़कियाँ बैठी कीर्तन कर रही थीं।

मैं स्नान करके लौटा तब तक सभी सगे सम्बन्धियों को सूचना मिल चुकी थी। सभी को पता था—माँ का अन्तिम संस्कार महाराजजी ही करेंगे। अतः सभी छोटी से छोटी बात लोग मुझसे ही पूछ कर करते। उनके एक सम्बन्धी भारतीय सेना में थे, उन्होंने सेना का बैंड बाजा मँगाया। दो ट्रकें मँगायीं, दो बसें कीं, दस-

बीस मोटरें आ गयीं। अब माता के पार्थिव शरीर को भगवती भागीरथी के तट पर भस्मसात करना है। समस्त सम्बन्धियों का समूह अन्तिम सम्मान प्रदर्शित करने एकत्रित हुआ। सब रोते-रोते माँ के शरीर पर एक-एक दुशाला चढ़ाते थे, चरणों में नारियल रखकर भूमिष्ठ होकर प्रणाम करते। उस दृश्य को देखकर मेरी आँखें बह रही थीं। पचासों दुशाले माँ के शव पर चढ़ाये गये, नारियलों का ढेर लग गया। विमान तैयार हो गया। तब हम माँ के पार्थिव शरीर को बाहर लाये, विमार पर रखकर पिंड दिये। मैं तो तेरह दिन रह नहीं सकता था, अतः राज पुरोहित को अपना प्रतिनिधि बनाकर सब कृत्य कराये। माँ का विमान ट्रक में रखा गया।

कीर्तन करने वाले पंडित, मैं और इन्दु के दोनों बच्चे ट्रक में बैठे। अब माँ की अन्तिम शोभा यात्रा निकली। वह दृश्य दर्शनीय था। माँ के स्वरूपानुरूप था। सभी बाजे बजाने वाले बहुमूल्य सैनिक गण वेष से सुसज्जित थे, वे शोक पूर्ण ध्वनि बजा रहे थे। सैकड़ों सगे सम्बन्धी पीछे-पीछे रोते हुए चल रहे थे। पीछे बस और मोटरों की पंक्तियाँ चल रहीं थीं। द्वार पर आकर सभी ने माँ का राजसी सम्मान किया और शोभा यात्रा हरिद्वार को चल पड़ी। ऋषीकेश के समीप मार्ग का पिंडदान हुआ। पाँच पिंड दिये जाते हैं। हरिद्वार में आकर विधिवत् चिता लगायी। वे मेरा प्रसादी वस्त्र ही ओढ़ती थीं, अतः मैंने अपने ऊनी चद्दरे से उनके शरीर को ढककर गंगा स्नान करके चिता पर रख दिया। धू-धू करके चिता जलने लगी। तब तक बम्बई से इन्दु भी आ गया। क्षणभर में माँ का वह शरीर जलकर मुट्ठी भर भस्म हो गया। चार पाँच घण्टों तक स्मशान में बैठा-बैठा मैं यही सोचता रहा—"जिस शरीर के पीछे मेरा मेरा मैं-मैं करता

हुआ जीव, प्राण देता है उसकी अन्तिम यही स्थिति है। माँ के शरीर को जलाकर भस्मी को भागीरथी में प्रवाहित करके हम हरि की पौड़ी पर आये। अन्तिम तिलाञ्जलियाँ दीं। स्नानादि से निवृत्त होकर पोद्दार भवन में आये, पूजा करके प्रसाद पाकर तीसरे दिन प्रयाग आ गये।

आते ही अचला सप्तमी से १७-१८ दिन का माँ के निमित्त अखण्ड भगवन्नाम संकीर्तन आरम्भ कराया। आदमी भेजकर वृन्दावन से कीर्तनकार और पं नित्यानन्दजी को भागवत सप्ताह के लिये बुलाया। उनके निमित्त श्रीमद्भागवत का सप्ताह किया। जैसे वे करती थीं उनके अनुरूप तो मैं कर नहीं सका, किन्तु जैसा कुछ अपनी शक्ति के अनुसार कर सका १७-१८ दिन का यह महोत्सव बड़ी ही शन्ति के साथ धूमधाम से निर्विघ्न सम्पन्न हो गया। उनके निमित्त अखंड कीर्तन, भागवत सप्ताह, ब्रह्म भोज जो भी कुछ बन सका किया। मुझे तो नहीं, वशीधरजी को माँ के दर्शन भी हुए। आजकल वे १०८ भागवत चरित के पारायण का अनुष्ठान कर रहे हैं। उन्होंने बताया पाठ करते-करते बैठे ही बैठे मेरी झपकी लग गयी। उसी समय देखा राजमाता अखंड कीर्तन में बैठी हुई हैं।

इससे मुझे विश्वास हो गया, कि माँ को इन कृत्यों से परम शांति प्राप्त हुई।

माँ का शरीर वृद्ध था, जिसने जन्म लिया है, उसे एक दिन मरना ही है। जन्म-मरण का तो यह चक्कर सनातन है। अवश्यम्भावी बात के लिये शोक करने से भी क्या लाभ ? किंतु मुझे सन्तोप इतना ही है, कि माँ को जो मैंने वचन दिया था, उसे यथा शक्ति यथा सामर्थ्य, जैसे भी मुझे साधन प्राप्त थे उसके अनुसार मैं अपने वचन को पूरा कर सका।

इन्हीं सब कारणों से इस महीने का भी भागवती कथा का सौवाँ भाग समय पर न निकल सका। यदि केवल भागवती कथा लिखने का ही काम भगवान् ने मुझे सौंपा होता, तो महीने भर में एक खण्ड निकालना कोई कठिन नहीं था। किन्तु अनेक प्रवृत्तियाँ सम्मुख आ जाती हैं। यह कार्य आ गया, अब प्रयाग पंचकोशी परिक्रमा का चक्कर चल रहा है, आगे भरत यात्रा का चक्कर आने वाला है। यह संसार ही एक चक्कर है। इस चक्कर से छूटने का यही उपाय है कि धार्मिक चक्करों में फँसा रहे। सो पाठक देर सवेर के लिये क्षमा करना, भूल चूक को सुधार लेना, थोड़े लिखे को बहुत समझना। इतिशम्

छप्पय

जग सम्बन्धी नहीं कृष्ण सम्बन्धी अपने।
जाग्रत में हू कृष्ण, कृष्ण ही सोवत सपने॥
कृष्ण भक्ति सम्बन्ध भक्त सम्बन्धी सच्चे।
भक्ति बिना सम्बन्ध जगत के सबही कच्चे॥
करो कृपा राधारमन, भक्त तुम्हारे सब बनें।
भक्त-चरन-रज कीच में, मेरो नश्वर तन सनें॥

—०—

चैत्र कृष्णा ७ । २०२६

भक्त चरणरेणु-इच्छुक
प्रभुदत्त

(५४) त्रिपाद् विभूति महानारायणो-पनिषद्-उत्तर काण्ड-सार

[३१८]

चरणं पवित्रे विततं पुराणम्
येन पूतस्तरति दुष्कृतानि ।
तेन पवित्रेण शुद्धेन पूता
अति पाप्मानमरातिं तरेम ॥*
(त्रि० वि० उ० ७ अ०)

छप्पय

कैसे जगतैं तरें सुगम साधन समुझायो ।
मोच्छ मार्ग को रूप सरलतातैं बतलायो ॥
पुण्य पुंज जब उदय संत संगति मिलि जावै ।
सदाचार अरु नियम संत संगति तैं पावै ॥
कृपा करें गुरुदेव जब, तब अज्ञान नसाइदें ।
हिय में भक्ति जगाइदें, परमारथ समुझाइदें ॥

* वह सुदर्शन चक्र पवित्र चरण वाला, विस्तृत तथा पुरातन है । उसी के द्वारा पवित्र होकर मानव पापों से तर जाता है । उस पवित्र शुद्ध, परमपावन सुदर्शन चक्र द्वारा पावन बनकर हम अति पाप रूप शत्रु को पार कर जायेंगे ।

जीव रूप पथिक न जाने कब से पथ भ्रष्ट होकर इस भवाटवी में भयभीत हुआ भटक रहा है। जन्मजन्मान्तरों की कर्म वासनाओं के वशीभूत होकर जीव परमार्थ को, परमात्मा को भूलकर पागलों की भाँति विषयों के पीछे दौड़ रहा है। इसे शान्ति नहीं,सुख नहीं,निश्चितता नहीं,स्वस्थता नहीं। नित्य चिंतित व्यग्र चना विषयों की चिन्ता में ही निमग्न रहता है। भाँति-भाँति के मनोरथों में मग्न हुआ चिन्ता सागर में गोता लगाता रहता है! अच्छे बुरे कर्मों को निरन्तर करता रहता है, वे कर्म तो यहीं रह जाते हैं उनकी वासनायें सूक्ष्म शरीर के साथ चिपट जाती हैं। जन्मान्तरों में वे वासनायें उभरकर आगे आ जाती हैं। उन्हीं वासनाओं के वशीभूत हुआ प्राणी परमार्थ से च्युत होकर चौरासी के चक्र में घूमता रहता है।

भवापवर्ग में घूमते-घूमते किन्हीं सुकृतों के कारण भगवत् कृपा होने पर उस अच्युतजनों का, भगवत् भक्तों का-किन्हीं महापुरुष का- जब संग प्राप्त हो जाता है, तो उसका जन्म मरण का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है, फिर उसकी बुद्धि संसार मार्ग से हटकर परमार्थ मार्ग में प्रभु प्राप्ति के पथ में-लग जाती है, फिर तो उसका कल्याण ही हो जाता है, भगवान् की ओर मति हो जाने से उसका संसार बन्धन छिन्न-भिन्न हो जाता है, यह संसार से मुक्त हो जाता है। यही मोक्ष प्राप्ति का संसार सागर से तरने का साधन है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं त्रिपाद् विभूति महानारायणोपनिषत् के उत्तर काण्ड का-पंचम अध्याय का- सार सुनाता हूँ।"

शिष्य ने गुरुदेव के पादपद्मों में प्रणत् होकर प्रश्न पूछा—भगवन्! पीछे आपने बताया कि त्रिपाद् विभूत नारायण की

इच्छा से उनकी पलकें गिरती हैं, इस पलक गिरने से मूल अविद्या का उसके आवरण सहित नाश हो जाता है, अविद्या नष्ट हो जाती है। तो जो अविद्या नष्ट ही हो गयी, उसका उदय फिर कैसे होता है?"

यह सुनकर गुरुदेव हँसे और बोले—"देखो, जल के सूख जाने पर उसमें रहने वाले मेढक कीच के नीचे दब कर सूख जाते हैं, एक प्रकार से नष्ट ही हो जाते हैं। किन्तु वर्षा ऋतु आने पर तालाब में पुनः जल भर जाने पर सूखी हुई कीच में दवे हुए–मरे हुए से– मेढक पुनः जीवित होकर कार्य करने लगते हैं। उसी प्रकार पूर्णतः नष्ट हुई अविद्या उस समय पुनः उदय हो जाती है, जब भगवान् पलक खोलते हैं, जब उनका उन्मेष काल होता है।"

शिष्य ने पूछा—"जीवों का यह जो अनादि संसार रूप भ्रम है वह किस प्रकार का है? यह भ्रम निवृत्त हो कैसे? मोक्ष का स्वरूप क्या है? मोक्ष का साधन स्वरूप बतावें, सायुज्य मुक्ति का अर्थ समझावें?"

शिष्य के प्रश्नों को सुनकर गुरुदेव ने कहा—"देखो, भैया! जन्मान्तर में किये दुष्कर्मों के कारण जीव शरीर को ही आत्मा समझने लगता है। उसे इतना विवेक नहीं रहता है कि आत्मा तो नित्य चैतन्य, सनातन है। शरीर पाँचभौतिक, अनित्य, जड़ तथा नाशवान् है, दोनों एक कैसे हो सकते हैं? वह देह में ही आत्म बुद्धि करके अहंकार वश अपने को अज्ञानी, अल्पज्ञ जीव मानने लगता है। उसे इतना विवेक नहीं रह जाता कि देह पृथक् है आत्मा उससे भिन्न है। उसकी समस्त चेष्टायें संसारी विषयों को बटोरने में ही होती हैं, उसकी कभी तृप्ति नहीं होती। विषय भोग जितने ही प्राप्त होते जाते हैं, उतना ही

वह अधिक अतृप्त बनता जाता है। मुझे यह भी मिल जाय, वह भी मिल जाय इसी आशा से दौड़ता रहता है। इष्ट वस्तु के मिलने पर सुखी और न मिलने पर दुखी होता है। अधिक संसारी विषयों में फसता ही जाता है। मोक्ष मार्ग की ओर उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। क्योंकि यथार्थ सुख क्या है, देह और आत्मा पृथक्-पृथक हैं, मुक्ति के साधन क्या हैं? इन विषयों से वह सर्वथा अनभिज्ञ रहता है। अज्ञान की प्रबलता से उसे संसारी विषय ही सुखकर प्रतीत होते हैं। उसे भक्ति, ज्ञान, वैराग्य की बातें अन्तःकरण की मलिनता के कारण अच्छी नहीं लगतीं।

जब कभी जीवों के पूर्वकृत पुण्य उदय होते हैं तब उसे सत्पुरुषों का-भगवत् भक्तों का संग प्राप्त हो जाता है। साधु संग से विधि-निषेध का ज्ञान, सदाचार में प्रवृत्ति होती है, इससे पापों का नाश होने से अन्तःकरण निर्मल बनता है। अन्तः-करण के निर्मल होने पर सत्गुरु की चाह उत्पन्न होती है। सत्गुरु की प्राप्ति होने पर उसमें कल्याण कारी गुण स्वतः आने लगते हैं। सद्गुरु तत्त्वज्ञान के दाता हैं। सद्गुरु की कृपा के लक्षण ये हैं कि उसको भगवान् की कथा सुनने में, भगवत् ध्यान पूजन करने में श्रद्धा बढ़ने लगती है। इन कार्यों से अन्तःकरण की समस्त दुर्वासनायें नष्ट होकर हृदय कमल की कर्णिका में परमात्मा के दर्शन होने लगते हैं, इससे वैराग्य, भक्ति, ज्ञान तथा विज्ञान बढ़कर परिपक्व होते हैं। विज्ञान की परिपक्वता से जीव जीवन मुक्त हो जाता है। उसके हृदय में भगवत् भक्ति बढ़ती ही जाती है। जिस भाग्यशाली के हृदय में भगवत् भक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है। उसे सभी अवस्थाओं में सभी ओर भगवान् नारायण दिखायी देने लगते हैं। उसे

सम्पूर्ण जगत् नारायण मय प्रतीत होने लगता है, वह सर्वत्र अपने इष्ट श्रीमन्नारायण को ही देखता हुआ स्वच्छन्द निर्भय होकर आनन्द के साथ विहार करता है। जब उसे संसार नारायण मय अनुभव होने लगता है, तब उसे कभी-कभी शंख चक्रधारी साक्षात् नारायण के दर्शन भी होने लगते हैं।

ऐसे भगवत् भक्त मृत्यु को जीत लेते हैं। वे जीवन मुक्त हो जाते हैं।

अपनी इच्छा से जब भगवत् भक्त इस शरीर का परित्याग करना चाहता है, तब विष्णु पार्षद उसके समीप आते हैं। तब वह भक्त हृदय कमल में श्रीमन्नारायण का ध्यान करता हुआ उनकी मानसिक पूजा करके सोऽहं मन्त्र का उच्चारण करके शरीर के नौ द्वारों को रुद्ध करके दशम द्वार द्वारा प्राण को प्रणव का उच्चारण करते हुए शरीर से बाहर निकालता है। तब वह दश इन्द्रियों, मन और बुद्धि से परे जो परमात्म तत्त्व है उसकी पंचभूत रूप पंचोपचार विधि से पूजा करता है। फिर सोऽहं मन्त्र से षोडश तत्त्वों द्वारा षोडशोपचार पूजा करके इस प्राकृत शरीर को त्याग देता है। इस पाँच भौतिक शरीर को त्यागकर विष्णुपार्षद के देह को धारण करता है, जो देह कल्पनामय, मन्त्रमय, शुद्ध ब्रह्मतेजोमय, निरतिशय आनन्दमय है। उन विष्णुपार्षदों का स्वरूप महाविष्णु के स्वरूप के ही सदृश होता है। तदनन्तर सूर्यमण्डल में स्थित, अनन्त चरणांगुष्ठ निसृत भगवती देवगंगा में स्नान करके दिव्य वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर, गुरुदेव को नमस्कार करके प्रणव रूप जो गरुड़ जी हैं उनका ध्यान करता है। गरुड़जी के पधारने पर उनकी पञ्चोपचार से पूजा करके गुरु आज्ञा से गरुड़ पर आरूढ़ होता है। तब भगवान् के मूर्तिमान सुदर्शनचक्र उस

आगे-आगे चलते हैं। विश्वक्सेन उसकी रक्षा करते हुए चलते हैं, दिव्यवस्त्राभूषणों के अलंकृत, साक्षात महाविष्णु के स्वरूप के सदृश पार्षद रूप में वह अन्य भगवत्पार्षदों से घिरा हुआ आकाश मार्ग में प्रवेश करता है। अनेक पुण्यलोकों में होता हुआ वह सत्यलोक में जाकर भगवान् ब्रह्माजी की पूजा करता है, फिर क्रमशः शिवलोक, ग्रहमण्डल, सप्तर्षिमण्डल, सूर्यमण्डल, चन्द्र-मण्डल, ध्रुव मण्डल तथा शिशुमार चक्र आदि मण्डलों में होकर उन लोकों के अधिष्ठातृ देवों की पूजा करके तथा उन लोकों के सुकृतियों द्वारा पूजित होकर सर्वाधार सनातन महा-विष्णु की आराधना करके, उनके द्वारा पूजित होकर ऊपर आकर परमानन्द को प्राप्त होता है।

इसके अनन्तर वैकुण्ठ निवासी सुकृतिजन उसके समीप आकर उसकी पूजा करते हैं, यह भी उनकी पूजा करता है, तब आगे आने वाली विरजा नदी को पार करके उसमें स्नान करके सूक्ष्म पञ्चभूतों से निर्मित इस सूक्ष्म शरीर का भी परित्याग कर देता है, तब उसका परम दिव्य देह हो जाता है, उस देह से वह ब्रह्ममय वैकुण्ठ में प्रवेश करता है। वहाँ एक ब्रह्मानन्द नामक दिव्य पर्वत है। उसके ऊपर दिव्य वेदी पर शेष भगवान् का भोगासन है, उसपर भगवान् आदि नारायण विराजमान हैं। वहाँ जाकर उनकी पूजा प्रदक्षिणा करके उनकी आज्ञा से ऊपर के जो पाँचों वैकुण्ठ हैं उन्हें पार करके अणु विराट् के कैवल्य पद को प्राप्त करता है। वहाँ अण्ड विराट भगवान् की पूजा आरा-धना करके परमानन्द को प्राप्त होता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार इस पंचम अध्याय में संसार से कैसे तरा जाय और भक्तिमार्ग के अनु-सार मोक्ष मार्ग का क्या स्वरूप है, इसका वर्णन किया। अब

छटे अध्याय में इसी विषय का विशेष रूप से वर्णन किया गया है।"

छटे अध्याय में इसी विषय को चालू रखते हुए गुरुदेव कहते हैं—"जब उपासक परमानन्द को प्राप्त कर लेता है, तब वह आवरण सहित ब्रह्माण्ड का भेदन करके ब्रह्माण्ड के बाहर चला जाता है। तब वह फिर ब्रह्माण्ड के स्वरूप का निरीक्षण करता है। ब्रह्मज्ञान द्वारा ही वह उसके स्वरूप को जानता है। अब वह अनुभव करता है कि वेदशास्त्र, ऋषि-महर्षि जो ब्रह्माण्ड का वर्णन करते हैं, वे सब प्रपञ्च के एक देश का ही वर्णन करते हैं, वे ब्रह्माण्ड के भीतर बाहर मोक्ष प्रपञ्च, ज्ञान-प्रपञ्च तथा अविद्या-प्रपञ्च इन सबके ज्ञान से रहित हैं।"

शिष्य के पूछने पर गुरुदेव ब्रह्माण्ड के स्वरूप का वर्णन करते हैं यह ब्रह्माण्ड कुक्कुट अंड के सदृश गोल है, परमतेजोमय, प्रतप्त सुवर्ण की कान्ति के सदृश, कोटि सूर्यों की कान्तिवाला, चतुर्विधजीवोपलक्षित, अष्ट प्रकृति (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहंतत्त्व, महतत्त्व और प्रकृतितत्त्व) आवरणों से आवृत है। दो अरब योजन प्रमाण वाला, सवा करोड़ योजन जिसकी भित्ति है ऐसा गोल मटोल यह ब्रह्माण्ड श्रीमन्नारायण की क्रीड़ा कंदुक खेलने की गेंद के सदृश है। एक परमाणु के सदृश विष्णु लोक से चिपका है, इसमें अनन्त अद्भुत, विलक्षण विचित्रतायें हैं।

एक नहीं ऐसे अनन्त ब्रह्मांड [illegible] आवरणों के सहित इसके चारों ओर विद्यमान हैं। [illegible] प्रत्येक ब्रह्मांड में श्रीमन्नारायण के [illegible] महेश विद्यमान हैं। इन [illegible] मुख वाले ब्रह्मा हैं [illegible]

वाले ब्रह्म हैं। जैसे अनन्त महासागर में असंख्यों मछलियाँ किलोल करती रहती हैं, वैसे ही ये अगणित ब्रह्मांड श्रीमन्नारायण के एक-एक रोम कूप में स्वच्छन्द होकर विचरण कर रहे हैं। ब्रह्मांड से बाहर गया साधक इन अगणित, असंख्यों ब्रह्मांडों को आश्चर्य के साथ देखता है। ये अनन्तकोटि ब्रह्मांड महाविष्णु की हथेली में ऐसे शोभित होते हैं जैसे बच्चे छोटे-छोटे आँवलों को हथेली पर रखकर खेलते हैं। साधक इन समस्त ब्रह्मांडों के पार पहुँच जाता है। फिर समस्त ब्रह्मांडों की जननी श्रीविष्णु की महामाया को प्रणाम करके उनकी आज्ञा से महाविराट् पद को प्राप्त कर लेता है। समस्त अविद्यापाद ही महाविराट् पद है, वह केवल ध्यान द्वारा ही जाना जा सकता है चर्मचक्षुओं से नहीं। वह अवाङ्मनस गोचर है।

तदनन्तर वह क्रमशः (१) पादविभूति वैकुण्ठ, (२) विश्वक्सेन वैकुण्ठ, (३) ब्रह्मविद्या वैकुण्ठ, (४) अनन्त वैकुण्ठ तथा (५) तुलसी वैकुण्ठ इन वैकुण्ठों को पार करते हुए वहाँ के अधिष्ठातृदेव तथा महामाया की पूजा करके और इन वैकुण्ठवासियों द्वारा पूजित होकर फिर वह शुद्ध बोधानन्दमय वैकुण्ठ अथवा ब्रह्मविद्यापाद वैकुण्ठ को प्राप्त होता है। वहाँ भगवान् आदि नारायण उसे दिव्य स्नान करा कर, दिव्यवस्त्राभूषणों से अलंकृत करके उसका मोक्ष साम्राज्य पदाभिषेक करते हैं। राजतिलक करके उसकी पूजा करते हैं। फिर उसे दीक्षा देते हैं और कहते हैं तुम ब्रह्म हो, मैं भी ब्रह्म हूँ, हममें तुममें कोई अन्तर नहीं, तुम मेरे, मैं तुम्हारा रूप हूँ" इस प्रकार उसे तत्त्व प्रत्यक्ष कराके स्वयं आदि नारायण अन्तर्हित हो जाते हैं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! मोक्ष मार्ग के स्वरूप का वर्णन करने वाले छटे अध्याय का यह संक्षिप्त सारांश समाप्त

हुआ। सप्तम अध्याय में तो इसी विषय को चालू रखते हुए आनन्द और तुरीय पाद का वर्णन करके फिर महानारायण यन्त्र के निर्माण का वर्णन है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! उसे भी आप सुनावें।"

सूतजी ने कहा—"मुनियो ! ब्रह्मांडों को पार करने पर, आष्ट वरणों से पार जाने पर साधक अविद्यापाद को पार करके सुविद्या पाद के जो पंच वैकुण्ठ हैं, उनमें जाता है, वहाँ से भी ऊपर बोधानन्द या ब्रह्मानन्द नामक आनन्दपाद का वैकुण्ठ है उसमें प्रवेश करता है, वहाँ भगवान् आदि नारायण द्वारा दीक्षित होकर पुनः गरुड़ पर आरूढ़ होकर साधक भगवान की आज्ञा से ब्रह्मानन्द विभूति में पहुँच जाता है। इस प्रकार छैः वैकुण्ठों से भी ऊपर जो सातवाँ सुदर्शन वैकुण्ठ है उसमें प्रवेश करता है, उस वैकुण्ठ की वस्तुओं की दिव्यता तो अवर्णनीय है। वहाँ सुदर्शन नाम का भगवान् का परम चैतन्य आनन्द स्वरूप दिव्य चक्र है, वह चक्र सबसे अन्तिम भगवत् वैकुण्ठ का द्वार है। उस आनन्द-पाद में आनन्दमय अनन्त वैकुण्ठ हैं। उन्हें देखता हुआ वह उससे भी ऊपर जो अन्तिम अद्वैत संस्थान धाम है उसे प्राप्त होता है। उसे ही कैवल्य धाम कहते हैं। त्रिपाद विभूति का वह सबसे अन्तिम वैकुंठ है। वह पावनता की पराकाष्ठा है, वहाँ भगवान् का परम दिव्य आसन है, उनके ऊपर महानारायण यन्त्र है, उस महानारायण यन्त्र पर साधक महानारायण का ध्यान करता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! महानारायण यन्त्र का स्वरूप क्या है ? इसे हमें बताइये।"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! यह यन्त्र बनाने का विषय लोक वाणी में कहने योग्य नहीं। इसे तो मूल उपनिषद् में ही सुयोग्य

साधकों को देखना चाहिये।" इस प्रकार यन्त्र बताकर यहाँ आकर सप्तम अध्याय समाप्त होता है।

अष्टम अध्याय में ब्रह्माजी भगवान् आदिनारायण से शंका करते हैं—"भगवन्! आपने अखंड अद्वैत परमानन्द परब्रह्म के स्वरूप के विरुद्ध जो ये असंख्य वैकुंठ बताये, इनमें भवन, पर्वत, तालाब और विमानों का वर्णन किया, ये अद्वैत मे कैसे संभव हो सकते हैं? एक, अखड, अद्वैत में इतने भेद कैसे?"

भगवान् ने कहा—"ये भेद भी सब ब्रह्ममय हैं, इनके होते हुए भी उनके अद्वैत पने में अखंडता में कोई आँच नहीं आती। अनन्त वैकुंठों के ऐश्वर्यों से युक्त होने पर भी वे अद्वैत ही बने रहते हैं। जैसे सुवर्ण तो एक ही है। उसके कुंडल, हार आदि अनेक आभूषण बन जाते हैं, सुवर्ण अनेक नाम और आकृति में परिवर्तित हो जाता है, किन्तु उसकी अखंडता, उसकी सुवर्णता तो नष्ट नहीं हो जाती। पृथ्वी है, उसके वन, पर्वत, वृक्षादि अनेक भेद हो जाते हैं, किन्तु वे हैं तो सब पृथ्वी रूप ही। समुद्र के जल के फैन, तरंग, बुद्-बुद, ओले, नमक, हिम आदि अनेक भेद हो जाते हैं किन्तु वे सब हैं तो जल रूप ही, इसी प्रकार परमानन्द स्वरूप जो मैं हूँ, मुझमें ही ये सब अनन्त वैकुंठादि विद्यमान हैं। इनसे मेरी अखंडता, अद्वैतता नहीं होती।"

ब्रह्माजी ने पुनः पूछा—"वैकुंठ या परम मोक्ष तो एक ही है, उसमें अनन्त वैकुंठ कैसे रह सकते हैं? एक में अनेक कैसे?"

भगवान् ने कहा—"एक गाँव में अनेक घर नहीं होते क्या? एक ब्रह्माण्ड में अनेक लोक होते हैं, एक अविद्यापाद में अनन्त ब्रह्मांड है। ऐसे हो त्रिपाद विभूति में अनन्त वैकुंठ हैं। अनन्त होने पर भी मोक्ष की एकता में कोई बाधा नहीं पड़ती।"

अथ शिष्य ने पुनः गुरु से पूछा—"सालम्ब और निरालम्ब योग में भेद क्या है ?"

गुरु ने कहा—"भगवान् की मूर्ति का आलम्बन लेकर जो ध्यान है, उसे सालम्ब योग कहते हैं, अन्तःकरण की किसी भी वृत्ति का आलम्बन न लेकर भावना रहित होना ही निरालम्ब है।"

शिष्य ने पूछा—"निरालम्ब तो बड़ा कठिन प्रतीत होता है ?"

गुरुदेव ने कहा—"अत्यन्त कठिन तो है ही, इसका अधिकारी तो कोई विरला ही है। सालम्ब जो भक्ति मार्ग है, वह सरल, सरस, सुगम तथा सर्वोपयोगी है। राजपथ के सदृश है, इससे सभी लोग जा सकते हैं। इससे अनायास अविलम्ब तत्त्वज्ञान हो जाता है। मोक्ष हो जाती है।"

शिष्य ने पूछा—"भक्ति से मुक्ति कैसे मिलती है ?"

गुरुदेव ने कहा—"जो भक्ति करता है, उसकी सब सार सम्हार भगवान् स्वयं करते हैं। भक्तों को मुक्ति तो बिना चाहे अनायास ही मिल जाती है। भक्ति के द्वारा कोई भी वस्तु असाध्य नहीं।"

गुरु के वचनों से शिष्य कृतार्थ हो गया। जब ब्रह्माजी को भगवान् ने यह संवाद सुनाया, तो ब्रह्माजी ने पूछा—"भगवन् ! गुरु कौन है ?"

भगवान् बोले—"गुरु और कोई नहीं। गुरु तो मैं ही हूँ। इसलिये मेरी ही शरण में आने से मुझे प्राप्त कर सकोगे।"

ब्रह्माजी इस उपदेश को सुनकर कृतार्थ हो गये। उन्होंने भगवान् की पूजा की, भगवान् ने उन्हें ब्रह्म स्वरूप होने का वरदान दिया।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यही अथर्ववेदीय त्रिपाद विभूति उपनिषद् का सारातिसार है। इसके अध्ययन से साधक पाप रहित हो जाता है। इसे सुपात्र को देना चाहिये। कुपात्र को कभी भूल कर भी नहीं दे। भक्ति मार्ग का यह दर्पण है। भक्तिमार्ग की यह सर्वोत्कृष्ट उपनिषद् है। अब आगे आप अद्वयतारकोपनिषद् का सार सुनिये।"

छप्पय

पाद अविद्या पार करै विद्या महँ जावै।
दिव्य देह कूँ धारि पार जग तें है जावै॥
पहुँचि सुविद्या पाद दिव्य वैकुंठ लखावै॥
अगनित दिव्य प्रसाद निरतिशय सुख उपजावै।
क्रम क्रम तें वैकुंठ सब, पार करत कैवल्य पद।
परमब्रह्म पद पहुँचि कें, आनँद पावै अति विपद॥

इति त्रिपाद् विभूति महानारायण उपनिषद्-
सार समाप्त

(५५) अद्वय तारक-उपनिषद्-सार

[३१६]

गुरुरेव परंब्रह्म गुरुरेव परागतिः
गुरुरेव पराविद्या गुरुरेव परायणम् ।
गुरुरेव पराकाष्ठा गुरुरेव परं धनम् ।
यस्मात् तदुपदेष्टासौ तस्माद् गुरुतरो गुरुः ॥ *
(अ० ता० उ०)

छप्पय

अद्वय तारक कही उपनिषद् ब्रह्म दिखावै ।
तीन लक्ष्य सन्धान योगतैं अद्वय पावै ॥
अन्तर, बाहर, मध्य लक्ष्य तीनिहु कहलावैं ।
ज्योति तारकहु दिखैं ध्यान तिनि माहिँ लगावैं ॥
तारक ध्यान हु मध्य मौं, निराधार को ध्यान धरि ।
मुद्रा खेचरि शांभवी, करै जीभकूँ उलटि करि ॥

जिससे संसार सागर से तर जाय-पार हो जाय-उसे तारक कहते हैं। वह तारक दो नहीं, अद्वय है, अद्वितीय है,

---

* गुरु ही परब्रह्म हैं, गुरु ही परागति हैं, गुरु ही पराविद्या हैं और गुरु ही परायण हैं। गुरु ही पराकाष्ठा हैं, गुरु ही परम धन हैं। जिस कारण ये ब्रह्म के उपदेष्टा हैं, इसलिये गुरु गुरुतर हैं-श्रेष्ट तर हैं।

केवल है, एक है, अद्वैत है, अनुपम तथा असदृश है। उस ब्रह्म के बराबर का कोई अन्य पदार्थ नहीं। जब उनके समान ही कोई नहीं है, तो उनसे बड़ा तो कोई हो ही नहीं सकता। ब्रह्म अनामय, अनिर्देश्य, अखण्ड, अज, अच्युत और अद्वितीय है, उसकी उपलब्धि सत्‌गुरु के उपदेश द्वारा ही सम्भव है। उन गुरुदेव के पादपद्मों में पुनः पुनः पुण्य प्रणाम है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब अद्वयतारक उपनिषत् के अर्थ को आप से कहता हूँ। जो यति-संन्यासी परमहंस जितेन्द्रिय हो, शमदमादिगुणों से पूर्ण हो उसके लिये यह उपनिषत् है। उस यति को चाहिये चित स्वरूप में ही हूँ, इसकी सदा भावना करता रहे। या तो आखों को बन्द कर ले अथवा कुछ खुली-कुछ बन्द ऐसे-किंचित्मीलिताक्ष-होकर अपनी दृष्टि को अन्तरमुखी करके भ्रूदहर स्थान से ऊपर सच्चिदानन्द तेजकूट रूप परब्रह्म को देखते-देखते तद्रूप हो जाता है। ऐसा ध्यान गर्भ, जन्म, जरा, मरण तथा संसार के महत् भय से तार देता है। इसीलिये उसे तारक कहते हैं।

जीव और ईश्वर दोनों को मायिक जानकर सर्व विशेष, नेति नेति इसे छोड़कर जो भी अवशेष रह जाय, बस वही अद्वय ब्रह्म है। उसकी सिद्धि के लिये तीनों लक्ष्यों का अनुसन्धान करना चाहिये। कैसे लक्ष्यत्रय को अनुसन्धान करे इसे बताते हैं।

देखिये, देह के मध्य में ब्रह्म नाड़ी सुषुम्ना है वह सूर्य रूपिणी है, चन्द्रमा के सदृश उसकी आभा है, वह मूलाधार से आरम्भ होकर ब्रह्मरन्ध्र तक चली गयी है। उसके मध्य में करोड़ों विद्युत के समान कान्तिवाली, कमलनाल के तन्तु से भी सूक्ष्माङ्गी कुण्डलिनी शक्ति प्रसिद्ध है। उसको देख लेने पर

मन से ही मनुष्य सर्वपापों से विनिर्मुक्त होकर मुक्त हो जाता है। काल के ऊपर गला, ललाट विशेष मण्डल में निरन्तर तेज तारक योग विस्फुरण के द्वारा जो उस कुंडलिनी को देखता है, वह सिद्ध हो जाता है। तर्जनी उँगली के अग्र भाग से दोनों कानों के छिद्रों को मूँद लेने पर एक प्रकार का फूत्कार शब्द (अनहद शब्द) सुनायी देगा। उसमें मन स्थित हो जाने पर चक्षु के मध्य में नील ज्योति दिखायी देगी। उस ज्योति स्थल को देखकर अन्तर्दृष्टि करने पर निरतिशय सुख प्राप्त होता है। उसी प्रकार वह ज्योति हृदय में भी दीखती है। इस प्रकार अन्तर्लक्ष्यलक्षण जो ज्योति है वह मुमुक्षुओं द्वारा उपास्य है। यह तो अन्तर्लक्ष्य लक्षण की बात हुई। अब बहिर्लक्ष्य लक्षण की बात सुनिये।

नासिका के अग्रभाग से क्रम से चार, छैः, आठ, दस, बारह अंगुल दूर पर नील द्युति श्यामत्व के सदृश रक्त भङ्गी से स्फुरित तथा पीत, शुक्लवर्ण से मिला हुआ आकाश में एक दिव्य प्रकाश देखता है वह योगी हो जाता है। व्योम में चलता हुआ तेज पुंज अर्थात् जहाँ-जहाँ दृष्टि जाय वहाँ-वहाँ ही दृष्टि के आगे चलायमान ज्योति की किरणें दिखायी दें, तो उसके देखने से ही योगी हो जाता है। तपाये हुए सुवर्ण के सदृश किरणों सहित ज्योति पुंज पलकों के अन्त में अथवा भूमि में जो देखता है, तो उससे दृष्टि स्थिर हो जाती है, शिर के बारह अंगुल ऊपर दिखाई देने से अमृतत्व की प्राप्ति होती है। जहाँ कहीं भी बैठा हो, वहीं जिसे वह शिर के ऊपर व्योमज्योति दिखायी दे, तो समझो वह योगी हो गया।

अब मध्यलक्ष्य लक्षण योग कहते हैं—"प्रातःकाल में विचित्रादि वर्ण युक्त अखण्ड सूर्य चक्र की भाँति-अथवा

ज्वालावली के सदृश अथवा उनसे विहीन अन्तरिक्ष के सदृश देखता है। उस दृश्य को देखते-देखते तदाकार वृत्ति वाला होकर जो बैठता है, उसे देखते-देखते उसमें तल्लीन हो जाता है, तो उसे फिर आकाश में देखने पर गुण रहित आकाश दिखायी देता है। गुण रहित आकाश कैसा दिखायी देता है इसे बताते हैं, कि विस्फुरित तारों के आकार वाला संदीप्त मान निगडतम अगाड अंधकार के सदृश–परमाकाश दिखायी देता है। और महाकाश ऐसा लगता है मानों कालानल–प्रलयाग्नि ही चारों ओर व्याप्त हो रही हो। तत्त्वाकाश ऐसा लगता है मानों सर्वोत्कृष्ट परमद्युतिवाला प्रद्योत मान हो रहा हो। सूर्याकाश ऐसा लगता है मानों करोड़ों सूर्य एक साथ उदित होकर प्रकाश वैभव को प्रसारित कर रहे हों। इस प्रकार जैसे पीछे व्योम पञ्चक बता आये हैं, वे योगी को भीतर तथा बाहर स्थित व्योम-दिखायी देने लगते हैं। यही तारक-लक्ष्ययोग है। उसके देखने वाला योगी विमुक्त फल के सदृश आकाश के ही समान हो जाता है। जैसे आकाश अदृश्य, सर्वव्यापक निर्लेप है वैसे ही वह योगी भी हो जाता है। इसीलिये तारकयोग ही लक्ष्य तक पहुँचाने वाला अमनस्क फल को देने वाला योग होता है।

वह तारक दो प्रकार का होता है। एक तो पूर्वार्धतारक और दूसरा उत्तरार्धतारक। उत्तरार्ध तारक को ही अमनस्क भी कहते हैं। इस विषय में प्राचीन एक मन्त्र है। उसका भाव यह है कि उस योग को दो प्रकार का जानो। एक पूर्वार्धतारक योग और दूसरा उत्तरार्धतारक योग। पहिले को केवल तारक-योग भी कहते हैं और उत्तर योग को अमनस्क योग कहते हैं। आँखों के सामने जो तारा के सदृश दो तारे दिखायी दें तो वे सूर्य और चन्द्रमा का प्रतिफल होते हैं। उन दोनों तारों में

सूर्यमण्डल और चन्द्रमण्डल का दर्शन होता है सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की भाँति पिण्डाण्ड दिखायी देने लगता है। शिर के मध्य में जो आकाश है। उसमें सूर्यमण्डल चन्द्रमण्डल पृथक्-पृथक् दिखायी देने लगते हैं। जब शिर के बारह अंगुल ऊपर के तारा के मध्य में सूर्य चन्द्रमण्डल पृथक्-पृथक् दिखायी दें, तो उन दोनों ताराओं में एक्य भाव करके मन से ध्यान करना चाहिये। अर्थात् द्वय रूप में ध्यान न करके अद्वय रूप से ध्यान करना चाहिये। यदि अद्वय भाव से ध्यान न करोगे, तो इन्द्रियों की प्रवृत्ति, का अनवकाश न होगा। अर्थात् इन्द्रियाँ अपने विषयों से निरुद्ध न हो सकेंगी। इसलिये अद्वय भाव से ही ध्यान करना चाहिये।

देखो, जो तारे दिखायी देते हैं, वे भीतर बाहर दोनों ही ओर तारे दिखायी देते हैं। अर्थात् आँखें खोलने पर बाहर भी दिखायी देते हैं और आँखें बन्द करने पर भीतर भी वे दिखायी देते हैं। इन दोनों में अन्तर्दृष्टि वाले तारों का ही अनुसन्धान करना श्रेष्ठ है। अर्थात् भीतर के तारों में ही अद्वय भाव से ध्यान लगाना चाहिये।

वे तारक भी दो प्रकार के होते हैं। एक मूर्तितारक दूसरा अमूर्तितारक। मूर्तितारक तो उसे कहते हैं-जो इन्द्रियों तथा अन्तःकरण द्वारा देखा जा सके। जो दोनों भौंहों के मध्य से भी अतीत हो-शून्याकाश सदृश हो-वह अमूर्ति तारक कहलाता है। वैसे अभ्यास तो सर्वत्र उसी मूर्ति तारक का ही होता है जो मन द्वारा देखा जा सके। दोनों तारकों में सत्स्वरूप ऊर्ध्वस्थ सत्त्व दर्शन से, मन से युक्त अन्तःकरण में देखने से उन्हीं सच्चिदानन्द ब्रह्म का ही दर्शन होता है। इससे यही सिद्ध हुआ कि जो शुक्ल तेजोमय तारक है वही ब्रह्म है।

ब्रह्म मन के सहकार से चक्षु की दृष्टि को अन्तर्दृष्टि करने से ही जाना जा सकता है। यह तो मूर्ति तारक के सम्बन्ध की बात हुई। अब आप अमूर्ति तारक के सम्बन्ध में भी सुनिये।

अमूर्ति तारक तो मन से युक्त अन्तःचक्षु द्वारा दहरादि जो आकाश है उसी के द्वारा जाना जा सकता है। क्योंकि मन और चक्षु तो रूप ग्रहण प्रयोजन के अधीन हैं। अर्थात् रूप का ग्रहण तो मन और चक्षु ही करते हैं। जैसे बाह्य रूप को चक्षु और मन ग्रहण करते हैं वैसे ही अन्तर में भी अध्यात्म मन और चक्षु के संयोग से रूप ग्रहण होता है। इसीलिये मनोयुक्त अन्तर्दृष्टि तारक का प्रकाश भीतर होता है। दोनों भौंहों के मध्य में जो एक बिल है उसमें दृष्टि स्थिर करने से, उस बिल के द्वार के ऊपर जो स्थित तेज है उसके आविर्भाव होने से अन्तर्तारक योग होता है। उस तेज के साथ मन को संयुक्त करके प्रयत्नपूर्वक दोनों भौंहों को बड़ी सावधानी के साथ किंचित् ऊपर की ओर उठावे यह तो हुआ पूर्वभागी तारक योग अब उत्तर भागी तारक योग के सम्बन्ध में और सुनिये।

उत्तर भागी तारक योग को ही अमूर्तिमान अमनस्क तारक योग भी कहते हैं। वह कैसे किया जाता है उसे भी सुनें। देखिये, ताल के मूल में जो ऊर्ध्वभाग है वहाँ एक महान् ज्योतियों का किरण पुञ्ज है। वह योगियों द्वारा ही ध्येय है। अर्थात् उस ज्योति का साक्षात्कार केवल योगी ही कर सकते हैं। उस ज्योति में ध्यान करने से अणिमा, गरमादि समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। अन्तर्बाह्य लक्ष्य में दृष्टि स्थिर करने से फिर पलकों का गिरना उठना बन्द हो जाता है। अर्थात् आँखें निमेष उन्मेष रहित हो जाती हैं। उस समय जिह्वा उलट कर तालु मूल में चली जाती है उसी को शांभवी

मुद्रा कहते हैं। शांभवी मुद्रा वाला योगी जिस भूमि में रहता है वह भूमि परम पावन बन जाती है। उस योगी के दर्शनमात्र से समस्त लोक पवित्र हो जाते हैं। ऐसे योगी की जिसे पूजा करने का सुअवसर प्राप्त हो जाता है वह पुरुष भी मुक्त हो जाता है। वह अन्तर्लक्ष्य जल ज्योति स्वरूप हो जाता है।

परमगुरु के उपदेश द्वारा मस्तक में जो सहस्रार चक्र है उसी सहस्रार चक्र में जल ज्योति है उसे बुद्धि गुहा निहित ज्योति भी कहते हैं। षोडशान्तस्थ तुरीय चैतन्य वा अन्तर्लक्ष्य भी कहते हैं। उसका दर्शन सब किसी को नहीं होता। जिस पर सत्गुरु सत्आचार्य कृपा करदें उसी को उस ज्योति का दर्शन होता है। वह सद्गुरु सत्आचार्य कैसा होता है–इसे बताते हैं।

वह सदाचार्य वेद सम्पन्न हो, भगवान् विष्णु का भक्त हो–वैष्णव हो–जिसमें किसी प्रकार का मद मत्सर न हो। योग को जानने वाला हो, योग में जिसकी निष्ठा हो, जो परम पवित्र हो और सदा योगाभ्यास में ही लगा रहता हो। गुरु भक्ति से समायुक्त हो तथा जिसे पुरुषों की परख हो, कि यह योग का अधिकारी है या नहीं है। ऐसे लक्षणों से जो सम्पन्न हो वही गुरु कहलाने का अधिकारी है। उसी का नाम गुरु है। उसे गुरु क्यों कहते हैं ? गुरु शब्द का अर्थ क्या है ? इस बात को बताते हैं—

गुरु शब्द में "गु" और 'रकार' दो शब्द हैं। इनमें से 'गु' का अर्थ तो है अन्धकार और 'रु' शब्द का अर्थ है अन्धकार का निरोध करने वाला। जो हृदय के अन्धकार को ८। प्रकाश फैला दे उसी को गुरु कहते हैं। ऐसा गुरु ही परब्रह्म वही परागति है, वह पराकाष्ठा है, वही परम धन है, वह

ब्रह्म का उपदेष्टा है इसलिये वह गुरु से भी गुरुतर है। यही अद्वय उपनिषत् है। इसे जो एक बार भी उच्चारण कर लेता है उसका संसार बन्धन कट जाता है। समस्त जन्मों के किये पाप तत्क्षण नष्ट हो जाते हैं। वह समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। उसके समस्त पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं। जो इसे जानता है वास्तव में वही सब कुछ जानता है। इस प्रकार यह अद्वयतारक उपनिषद् समाप्त हो गयी। पूर्णमदः इसका शान्ति पाठ है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने आपको अद्वयतारक उपनिषद् का सार कहा। अब आगे जैसे श्रीरामरहस्य उपनिषद् का सार कहूँगा, उसे आप सब दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

सहसार जलज्योति बिना गुरु सो न दिखावै।
अन्धकार करि नाश प्रकाशद गुरु कहलावै॥
गुरु-गति-गुरु-धन ब्रह्म गुरुहि काष्ठा विद्या पर।
गुरु ही हैं सरबस्व गुरुहि परब्रह्म परावर॥
गुरुतर गुरु गुरु श्रेष्ठतर, गुरु अद्वय दिखलायँगे।
प्रेम सहित अद्वय पढ़ैं, ते सबही फल पायँगे॥

—०—

इति अद्वयतारक-उपनिषद्-सार समाप्त

(५६) राम रहस्य-उपनिषद्-सार

[३२०]

राम एव परंब्रह्म राम एव परं तपः।
राम एव परं तत्त्वं श्रीरामोब्रह्मतारकम् ॥*
(रा० र० उ० १ म० ६ म०)

छप्पय

राम रहस उपनिषद् रामको तत्त्व बतावै।
राम नाम सरवस्व राम भव पार लगावै॥
राम छयानवे कोटि जपै कृतकृत्य कहावै।
राम जपहिँ असमर्थ, तोत्र, गीता, गुन गावै॥
राम मन्त्र बहु तक कहे, एकाक्षर बढ़तहिँ गये।
राम पीठ पूजा कही, पुरश्चरण करि कस रहे॥

श्रीराम के रहस्य का उपदेश करने वाली इस राम रहस्य उपनिषद् में चार अध्याय हैं, यह अथर्ववेदीय उपनिषद् है। भद्रं कर्णेभिः इत्यादि मन्त्र इसके शान्ति पाठ हैं। इसे सनकादि महर्षियों के सम्मुख हनुमान्‌जी ने प्रकट किया।

एक समय की बात है, सनक, सनंदन, सनातन और सनत्

---

* हनुमान् जी कह रहे हैं—"श्रीराम ही परब्रह्म हैं वे ही परम तप स्वरूप हैं। श्रीराम ही परतत्त्व हैं और श्रीराम ही तारक परब्रह्म परमात्मा हैं।"

कुमार ये चारों तो ब्रह्माजी के पुत्र तथा अन्यान्य बहुत से ऋषि महर्षि गण एवं प्रह्लादादि बहुत से विष्णुभक्त मिलकर हनुमान् जी के समीप गये और जाकर उनसे कहने लगे—"हे महाबाहो! हे पवनतनय! तुम यह बताओ कि ब्रह्मवादियों ने मुख्य तत्त्व किसे बताया है? अठारहों पुराणों में, अठारहों स्मृतियों में, चारों वेदों में, सम्पूर्ण शास्त्रों में तथा समस्त आध्यात्मिक विद्याओं में मुख्यतत्त्व क्या निरूपण किया है? समस्त जो विद्यादान हैं अर्थात् भगवान् के विघ्नेश, सूर्य, ईश तथा शक्ति ये नाम हैं, इन सबमें कौन-सा नाम श्रेष्ठ है. उनमें परम तत्त्व कौन-सा है?"

ऋषि मुनियों और भगवत् भक्तों के इस प्रश्न को सुनकर हनुमान्जी बोले—"अजी ओ सनकादि महर्षियो! योगीन्द्र वर्यो! भगवत् भक्तो! मेरी बात को ध्यानपूर्वक श्रवण कीजिये। मेरी यह बात संसार बन्धन को मोचन करने वाली है। इन सब वेदादि शास्त्रों में एकमात्र परमतत्त्व, ब्रह्मस्वरूप तारकमन्त्र ही है। वह तारकमन्त्र "राम" यही है। राम ही परब्रह्म है, राम ही परम तप है, राम ही परमतत्त्व हैं और श्रीराम ही तारक-ब्रह्म मन्त्र हैं।"

जब वायु पुत्र हनुमान् ने परम तत्त्व श्रीराम को ही बताया तब वे ऋषि, मुनि तथा भक्तगण उनसे बोले—"हे हनुमान्जी! आप श्रीराम के अङ्गभूत जो देवता हैं उनका उपदेश हमें और करें।"

यह सुनकर हनुमान्जी ने कहा—"देखिये, आप सब मेरी बात को सुनें। वायुपुत्र मैं, गणेश, वाणी, दुर्गा, क्षेत्रपाल, सूर्य, चन्द्रमा, नारायण, नृसिंह, वायुदेव और वाराह तथा और भी दूसरे दूसरे सभी देवताओं के मन्त्रों को, इनके अतिरिक्त सीता, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, भरत, विभीषण, सुग्रीव, अङ्गद, जाम्बवान् और

ओंकार इन सबको राम के अङ्ग जानो। इन अङ्गों के बिना राम मन्त्र विघ्नकारक होता है।"

इस प्रकार जब पवन तनय हनुमान्‌जी ने यह बात कही, तब उनसे ऋषि मुनि आदिक फिर पूछने लगे—"हे महाभाग! अञ्जनानन्दवर्धन! जो ब्राह्मण गृहस्थ हैं, उन्हें प्रणव का अधिकार कैसे हो सकता है?"

इस पर हनुमान्‌जी ने कहा—"देखो, श्रीराम ने यह कहा था; कि जिन्हें षडक्षर मन्त्र का अधिकार है उन्हें प्रणव का भी अधिकार है अन्य को नहीं है। केवल अकार, उकार, मकार और अर्धमात्रा सहित जपकर पुनः जो राम मन्त्र को जपता है उसके लिये मैं शुभ करने वाला होता हूँ। उस प्रणव में जो अकार, उकार, मकार और अर्धमात्रा है इन सबके ऋषि, छन्द और देवता इन सबका न्यास करके इसी प्रकार वर्ण, चतुर्विध स्वर, वेद, अग्नि तथा गुण आदि का उच्चारण करके उनका न्यास करे, फिर प्रणव मन्त्र से दुगना जप करके पश्चात् राम मन्त्र को जपना चाहिये। जो इस प्रकार जपता है वह राम ही हो जाता है। श्रीरामचन्द्र ने मुझसे स्वयं ही कहा है, इसलिये प्रणव भी श्रीराम का अङ्ग ही है।" विभीषण ने कहा—"सिंहासन समासीन रावणारि श्रीराम को भूमि में लोटकर दण्डवत् प्रणाम करके पुलस्त्यवंशोद्भव मैंने यह कहा—"हे रघुनाथ! हे महाबाहो! मैंने अपनी संहिता में कैवल्य रूप का वर्णन किया है, कृपा करके आपके जितने सुलभ अङ्ग हैं उनको अल्प पुरुषों की सुलभता के निमित्त बताइये।"

इस पर श्रीरामचन्द्र ने कहा—तुम्हारे जो पञ्चाङ्गरत्न हैं उन्हें और मेरे जो छियानवे करोड़ नाम हैं उनका जो जप मा-है, वह पिता, माता, ब्राह्मण, गुरु, करोड़ों स्त्रियों के

घोरातिघोर पापों से, इनके अतिरिक्त और भी अनेकों महापापों से छूट जाता है। वह स्वयं ही सच्चिदानन्द स्वरूप हो जाता है और अधिक क्या कहा जाय।"

इस पर फिर विभीषणजी ने पूछा—"जो इतना न कर सकता हो। इतना जप करने में असक्त हो वह क्या करे?"

इस पर श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—"हे कैकसी के पुत्र, विभीषणजी! जो छियानवे करोड़ मन्त्रों का पुरश्चरण में असमर्थ हो अगर मेरी महोपनिषद् का, राम गीता का, मेरे सहस्र नामों का, मेरे विश्वरूप मेरे एक सौ आठ नामों का, राम शताभिधान का, नारदजी द्वारा कहे हुए स्तवराज का, हनुमान्जी द्वारा कहे हुए मंत्र राजात्मक स्तवराज का, सीतास्तव का राम षडक्षरादि मन्त्रों का पाठ करता है। इन स्तोत्रों द्वारा मेरा नित्य स्तवन करता है, उसे भी पुरश्चरण के सदृश ही फल मिल जाता है। उसे क्या नहीं हो जाता। इस प्रकार यहाँ पर राम रहस्योपनिषत् का प्रथम अध्याय समाप्त होता है।

अब द्वितीय अध्याय में सनकादि महर्षियों ने हनुमान्जी से पूछा—हे आञ्जनेय! हे महाबली हनुमान! तारक ब्रह्म जो श्रीरामचन्द्रजी हैं उनके मन्त्रग्राम को आप हमसे कहें।"

इस पर हनुमान्जी ने कहा—"अग्निबीज जो रा है वह अर्ध-चन्द्र विभूषित हो जाता है अर्थात् जब राँ बन जाता है तो वही एकाक्षर मन्त्र है। यह मन्त्रराज कल्पवृक्ष के सदृश है। इस एकाक्षर राँ मन्त्र के ब्रह्मा तो ऋषि हैं, गायत्री छन्द है, श्रीराम ही इसके देवता हैं, दीर्घ अर्ध चन्द्रबिन्दु ही इसके अङ्ग हैं, यह अग्नि-आत्मन मन्त्र है। बीज शक्ति आदि बीज द्वारा अपने इष्ट की प्राप्ति में इसका विनियोग होता है इसका ध्यान इस भाव से करना चाहिये। भगवान् श्रीरामचन्द्र जी श्याम वर्ण वाले हैं,

वीरासन से सिंहासन पर समासीन हैं, ज्ञान मुद्रा से उपशोभित हैं, बायें ऊरु पर एक हाथ रखे हुए हैं, सीता और लक्ष्मण से संयुक्त हैं। अपनी ही आत्मा को देख रहे हैं, वे अमित तेज वाले हैं। वे शुद्ध स्फटिक के सदृश हैं, केवल मोक्ष की आकांक्षा से ही उनका ध्यान करना चाहिये।

ऐसे परमात्मा का चिन्तन करते हुए बारह लाख मन्त्र का जप करे। यह तो एकाक्षर मन्त्र के सम्बन्ध की बात हुई। अब इसी प्रकार २-द्वि अक्षर, ३-त्रि अक्षर, ४ चतुः अक्षर,(५) पञ्चाक्षर, (६) षडक्षर, (७) सप्ताक्षर, (८) अष्टाक्षर, (९) नवाक्षर, (१०) दशाक्षर, (११) एकादशाक्षर, (१२) द्वादशाक्षर, (१३) त्रयोदशाक्षर, (१४) चतुर्दशाक्षर, (१५) पञ्चदशाक्षर, (१६) षोडशाक्षर, (१७) सप्त दशाक्षर, (१८) अष्ट दशाक्षर, (१९) एकोनविंशति अक्षर, (२०) विंशाक्षर, (२१) एकविंशाक्षर, (२२) द्वाविंशद् अक्षर, (२३) त्रयोविंशाक्षर, (२४) चतुर्विंशकाक्षर, (२५) पञ्चविंशति-अक्षर, (२६) षडविंशद्-अक्षर, (२७) सप्तविंशति-अक्षर (२८) अष्टविंशति-अक्षर, (२९) एकोनत्रिंशद्-अक्षर, (३०) त्रिंशद्-अक्षर, (३१) एकत्रिंशद्-अक्षर, (२४) चतुर्विंशति-अक्षर (श्रीराम गायत्री), (२५) पंचविंशति-अक्षर, (४७) सप्तचत्वारिंशद्-अक्षर इस प्रकार इन मन्त्रों के ऋषि, छन्द, देवता तथा अंगन्यास और ध्यानादि को बताकर द्वितीय अध्याय में इस सबका विस्तार से वर्णन किया है।

अब तृतीय अध्याय में सनकादि महर्षियों ने हनुमानजी से पुनः पूछा—"आञ्जनेय महा बलवान! ये जो तुमने पहिले मन्त्र बताये हैं इनकी पूजा पीठ हमें और बता दो। अर्थात् इन मन्त्रों के यन्त्र कैसे बनाये जायँ! इस पर हनुमानजी ने सीमंत में यन्त्रों द्वारा आराधनपूर्वक दशाक्षरादि मन्त्रों की जप

बताकर पूजापीठ निर्माण विधि बतायी है। जो मूल में ही देखने से जानी जा सकती है।"

अब चतुर्थ अध्याय में सनकादि महर्षियों ने हनुमान्जी से इन मन्त्रों के पुरश्चरण करने की विधि पूछी। इस पर हनुमान्जी ने कहा—"महर्षियो! इन मन्त्रों मे से किसी भी मन्त्र का पुरश्चरण करने वाले साधक को प्रातः, मध्यान्ह और सायंकाल तीन बार स्नान करना चाहिये। दूध, कन्दमूल तथा फल का आहार करना चाहिये। अथवा खीर वा हविष्य अन्न का भी आहार कर सकते हैं। छेऊ रसों के स्वादों की वासना का त्याग कर देना चाहिये। जिस आश्रम में स्थित हो, उस आश्रम की विधि का पालन करते रहना चाहिये। स्त्रियों से मनसा, वाचा तथा कर्मणा सर्वथा निस्पृह रहना चाहिये। पवित्रता से रहना चाहिये।

पृथ्वी पर ही शयन करे, ब्रह्मचर्य व्रतपूर्वक रहे, निष्काम तथा गुरु भक्तिमान् होकर रहे। स्नान, पूजा, जप, ध्यान, होम तथा तर्पणादि कर्मों में तत्पर रहे। गुरुदेव ने जैसा उपदेश दिया हो, उसी उपदेशानुसार अनन्य बुद्धि से श्रीरामजी का ध्यान करे, सूर्य, चन्द्रमा, गुरु, दीपक, गौ तथा ब्राह्मण के समीप मन्त्र जप करे। श्रीरामचन्द्रजी की सन्निधि में मौनी होकर मन्त्र के अर्थ का चिन्तन करते हुए जप करे। व्याघ्रचर्म के आसन पर स्वस्तिक आदि जो आसन हैं उन आसनों को लगाकर तब जप करे। तुलसी, पारिजात तथा बिल्ववृक्ष के नीचे बैठकर अनुष्ठान करे। पद्म कमलगट्टा की माला अथवा रुद्राक्ष की माला तथा तुलसी के काष्ठ की माला से जप करे। अथवा अक्षरों की मानसिक मातृका माला बनाकर मन से ही–बिना माला के–मन्त्र का जप करे। वैष्णव पीठ की पूजा करके जितने अक्षरों का मंत्र होता है उतने ही लक्ष्य का उसका अनुष्ठान होता है, अतः

मन्त्रों के जितने अक्षर हों उतने लाख मन्त्र जपे। फिर उसका दशांश तर्पण करे। उसका दशांश खीर से हवन करे। अथवा केवल घृत से ही हवन कर दे, फिर उसका दशांश ब्राह्मण भोजन करावे। इस प्रकार जप, हवन, तर्पण, मार्जन और ब्राह्मण भोजन इन पाँच अंगों द्वारा मन्त्रानुष्ठान पूर्ण होता है इसके अनन्तर पुष्पाञ्जलि मूल मन्त्र से विधिपूर्वक करे। इस प्रकार अनुष्ठान करने से जापक मन्त्र सिद्ध तथा जीवन्मुक्त हो जाता है। अणिमादिक सिद्धियाँ उसे उसी प्रकार वरण कर लेतीं हैं, जैसे युवक वर को युवती कुमारी वरण कर लेती है। परन्तु एक बात का सदा ध्यान रखना चाहिये कि राम मन्त्र का प्रयोग इस लोक की संसारी कामनाओं के निमित्त तथा महान् विपत्तियों के निवारणार्थ नहीं करना चाहिये। राम मन्त्र का प्रयोग तो केवल मुक्ति के ही निमित्त करना चाहिये।

हनुमान्‌जी कह रहे हैं—"मुनियो! यदि किन्हीं सांसारिक कामनाओं की पूर्ति करनी हो, तो मुझ रामसेवक को स्मरण कर लेना चाहिये। जो भी कोई रामचन्द्रजी के मन्त्र का भक्ति परायण होकर जप करता है। तो उसकी समस्त इष्ट सिद्धि का भार तो मुझ रामसेवक ने ले ही रखा है। मैं तो राम मन्त्र परायण साधकों की सेवा करने के कर्म में दीक्षित ही हूँ। जो श्री राघव के भक्त हैं, उनकी समस्त कामनाओं की मैं पूर्ति करता हूँ। किसी भी राम मन्त्र के जापक को चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि राम कार्य करने में धुरन्धर मैं सदा सचेष्ट–तथा जागरूक रहता ही हूँ।"

यहाँ आकर राम रहस्य उपनिषद् का चतुर्थ अध्याय समाप्त होता है। अब अन्तिम उपसंहार रूप में पुनः सनकादि महर्षियों

ने हनुमान्‌जी से पूछा—"श्रीरामचन्द्रजी के मन्त्रों का अर्थ हमें और बता दें।"

इस पर हनुमान्‌जी ने कहा—"देखो, महर्षियो! पीछे जितने मन्त्र मैंने बताये वे प्रसङ्गानुसार बता दिये, किन्तु इन पूर्वोक्त समस्त राम मन्त्रों में जो छेः अक्षरों वाला राम मन्त्र है वही वास्तव में मन्त्रराज है। वह एक, दो, तीन, चार, पाँच, छेः, सात, आठ प्रकार का तथा बहुत प्रकार का होकर व्यवस्थित है। आप इस मन्त्रराज का अर्थ मुझसे पूछ रहे हैं, यथार्थ बात तो यह है, कि इस मन्त्रराज का तत्त्वतः अर्थ तो केवल शिवजी ही जानते हैं। श्रीराम मन्त्र का भली प्रकार अर्थ यही कहते हैं। एक नारायण अष्टाक्षर मन्त्र है, एक शिव पञ्चाक्षर मन्त्र है, दो अक्षरों का राम मन्त्र है। इसका अर्थ यह है कि जिसमें योगी लोग रमण करते हैं, वही राम है। राम में दो अक्षर हैं रकार और मकार। इनमें से रकार तो अग्नि का बीज है इसका भाव है प्रकाश स्वरूप। इसी का अर्थ सच्चिदानन्द रूप है इसी को परमार्थ भी कहते हैं। राम के 'रा' में एक रकार व्यंजन है और अकार स्वर है। व्यंजन रकार तो मानो निष्कल ब्रह्म है। और अकार जो स्वर है—प्राण है—इसे माया जानो। व्यंजन और स्वर का संयोग होने से इसे प्राणयोजन समझना चाहिये। तो रेफ जो है अग्नि बीज होने से ज्योतिर्मय है। इसीलिये इसमें अकार को मिला दिया है। यह तो 'रा' का अर्थ हुआ। अब मकार का अर्थ सुनिये।"

मकार अभ्युदय के लिये होने से इसे माया कहा गया है। यही यह अपना ही बीज है इसलिये 'राम' का अर्थ हुआ माया सहित ब्रह्म। षड् अक्षर मन्त्र में पहिले तो राँ बीज है। फिर चतुर्थ्यन्त राम शब्द है, फिर नमः शब्द है। तो बीजाक्षर में रकार

है अकार है अर्ध बिन्दु अनुस्वार है। तो वह बिन्दु सहित पुरुष शिव, सूर्य तथा चन्द्रमा के समान रूपवान हैं। उस बीज की जो ज्योति है, वह शिखारूप है। नाद जो है उसे प्रकृति सहित मानना चाहिये। प्रकृति और पुरुष ब्रह्म समीप आ गये, बिन्दु और नादात्मक जो बीज है वह मानों अग्नि और चन्द्र कलात्मक है। इसलिये राम बीज में अग्नि और सोमात्मक रूप प्रतिष्ठित है। जैसे कि वट का बीज बहुत ही नन्हा-सा होता है। उस इतने नन्हें बीज में उस इतने भारी वृक्ष की जड़ें, शाखायें उप-शाखायें, पत्ते, फल आदि समस्त वस्तुएँ अन्तर्भूत हैं। उसी नन्हें बीज में वह इतना भारी प्राकृत महाद्रुम सूक्ष्म रूप से अवस्थित है। उसी प्रकार राम बीज में भी यह सम्पूर्ण चराचर जगत् अव-स्थित है। इस प्रकार बीजोक्त उभय अर्थ राम नाम में भी दिखायी देता है। बीज को माया से विनिर्मुक्त कर दो, तो उसी का नाम विशुद्ध परंब्रह्म है। साधकों को मुक्ति देने वाला 'राम' में का मकार ही है। 'मा' रूप होने से राम भुक्ति तथा मुक्ति दोनों को ही देने वाला कहा गया है।

अब राम शब्द में जो आदि का 'रा' है वह 'तत्वमसि' महावाक्य के 'तत्' पद का वाचक है। दूसरा जो 'मकार' है वह 'त्वं' पद का वाचक है। इन दोनों का संयोजन-जुड़ जाना-यही 'असि' अर्थ का द्योतक है। इस प्रकार राम शब्द का अर्थ हुआ 'तत्त्वमसि' ऐसा तत्त्व को जानने वाले तत्त्ववेत्ता पुरुष कहते हैं। अथवा षड्-अक्षर महामन्त्र में जो 'नमः' शब्द है उसे तत्त्वमसि महावाक्य का 'त्वम्' पद जानो और 'राम' को 'तत्' पद स्वरूप समझो। राम में जो चतुर्थी होकर रामाय बना है उस विभक्ति की 'असि' के साथ तुलना कर दो। इस : .
नमः का अर्थ हुआ 'तत्त्वमसि'। परन्तु 'तत्त्वमसि'

मन्त्र में और इस राम षड्-अक्षर मन्त्र में एक बड़ा भारी अन्तर है। यह जो 'तत्त्वमसि' महावाक्य मन्त्र है यह तो केवल मुक्ति को ही देने वाला है, किन्तु यह जो राम षड्-अक्षर मंत्र है, यह तो भुक्ति और मुक्ति दोनों को ही देता है, यही इसमें विशेषता है। इस षड्-अक्षर राम मंत्र में समस्त मनुष्यों का-प्राणीमात्र का-अधिकार है। मुमुक्षु पुरुषों को, विरक्तों को तथा समस्त आश्रम वासियों को प्रणव स्वरूप होने से सभी को इसका ध्यान करना चाहिये। विशेषकर यतियों-वैरागियों को-ध्यान अवश्य ही करना चाहिये। जो कोई व्यक्ति राममन्त्र के अर्थ को भली-भाँति जान लेता है। वह इस शरीर में जीवित रहते हुए ही मुक्ति का सुख अनुभव करने वाला जीवन्मुक्त हो जाता है।

जो इस रामरहस्य उपनिषद् का अध्ययन करता है, वह अग्नि द्वारा पवित्र हो जाता है। वह अग्नि से ही नहीं वायु से, सुरापान करने के पाप से, सुवर्ण की चोरी के पाप से तथा ब्रह्महत्यादि महापातकों से छूटकर परम पवित्र बन जाता है। जो राम मन्त्रों का सविधि पुरश्चरण कर लेता है वह श्रीरामचन्द्र स्वरूप ही हो जाता है। इसी बात को यह वेद की ऋचा भी कह रही है। इस ऋचा का भाव यह है-कि जो लोग तत्त्वतः सदा 'रामोऽहम्' मैं राम हूँ, ऐसा भली प्रकार बोलते हैं, वे निश्चय ही संसारी जीव नहीं हैं। वे निश्चय करके राम-रूप ही हैं। इसमें किसी भी प्रकार का संशय नहीं है। ॐ सत्यम्। इस प्रकार यह राम रहस्य उपनिषद् समाप्त हुई। रामचन्द्रजी की महिमा के एक नहीं अनेक ग्रन्थ हैं, सर्व सारादि राम रहस्यान्त ग्रन्थों की संख्या तीन सहस्र है। और ईशावास्यादि उपनिषदों को लेकर राम रहस्यान्त ग्रन्थ आठ सहस्र तीन सो अड़तालीस हैं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार मैंने यह श्रीराम

रहस्योपनिषद् का सार आप सबको सुनाया। अब आप श्रीराम-पूर्वतापिनी उपनिषद् का सार सिद्धान्त सुनने की कृपा करें। यह श्रीरामतापिनी उपनिषद् पूर्वतापिनी और उत्तरतापिनी दो भागों में बँटी हुई है। इनमें से पहिले आप श्रीराम पूर्वतापिनी उपनिषद् का सार सुनें, तदनन्दन्तर उत्तरतापिनी उपनिषद् का सार आपको सुनाऊँगा।''

छप्पय

राम पुरश्चरनादि-शयन भू पय फल खावै।
राम ध्यान, जप, हवन आदि में ढील न लावै॥
राम मुक्ति हित जपै, जगत के चाहै नहिँ सुख।
राम भक्त हनुमान जगत के देहिँ सबहिँ सुख॥
राम षडक्षर मन्त्र वर, सब मन्त्रनि महँ श्रेष्ठ है।
राम भक्ति जग मुक्ति अरु, मुक्ति देइ तिहिँ ज्येष्ठ है॥

इति राम रहस्योपनिषद्-सार समाप्त

(५७) श्रीराम पूर्वतापिनीय-उपनिषद्-सार

[३२१]

रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि ।
इति राम पदेना सौ परंब्रह्माभिधीयते ॥*
(श्रीराम० पू० ता० उ १ म० ६ श्लो०)

छप्पय

राम तापिनी पूर्व उपनिषद् अरथ बतावै ।
राम मन्त्र अरु यन्त्र रहस विधिवत समुझावै ॥
राम बीज, जप क्रिया, ध्यान की विधि बतलाई ।
राम षडक्षर मन्त्र राम महिमा जतलाई ॥
रामचरित संक्षिप्त कहि, कही यन्त्र निर्माण विधि ।
राम यन्त्र पूजा विषद, पूजित जिहि में सुर विविध ॥

वैसे तो समस्त शास्त्र राम के ही गुणों का गान करते हैं। शास्त्रों के आदि में, मध्य में तथा अन्त में, सर्वत्र श्रीराम की ही महिमा है, तथापि कई उपनिषदें राम का ही रहस्य बताती हैं। ऐसी ही उपनिषदों में श्रीरामतापिनी उपनिषद् है। यह दो भागों में विभक्त है, पूर्वतापिनी और उत्तरतापिनी। 'भद्रं कर्णेभिः

---

* जिसमें योगी लोग रमण करते हैं, जो अनन्त, नित्यानन्द, चिदात्मा हैं, इस प्रकार राम पद से परब्रह्म परमात्मा ही कहे जाते हैं। अर्थात् परब्रह्म राम का ही नाम है।

इत्यादि इसका शान्तिपाठ है और यह अथर्ववेदीय उपनिषद् है। पूर्वतापिनी उपनिषद् में दश खण्ड हैं।

इसके प्रथम खण्ड में श्रीराम नाम के विविध अर्थ बताकर भगवान् के साकार तत्त्व की व्याख्या की गयी है तदनन्तर राम मन्त्र का और यन्त्र का माहात्म्य बताया गया है। सच्चिदानन्द स्वरूप श्री महाविष्णु हरि जब रघुवंश में प्रादुर्भूत हुए तब उनका नाम 'राम' ऐसा हुआ। इस 'राम' शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए कहते हैं—"जो भक्तजनों का मनोरथ पूर्ण करने के हेतु पृथ्वी पर अवतीर्ण होकर भूपति रूप में बसुन्धरा पर सुशोभित होते हैं, वे ही राम हैं। जो मही पर राजते-शोभते—दीप्तिमान्-होते हैं वे ही राम हैं ऐसी व्याख्या विद्वानों ने की है। अथवा राम शब्द का एक अर्थ यह भी है कि 'रा' का अर्थ है राक्षस और मकार का अर्थ है मरण को प्राप्त होना अर्थात् जिनके द्वारा राक्षस मरण को प्राप्त हों वे राम हैं। अथवा जो स्वयं उत्कर्ष को प्राप्त हों, वे राम हैं। अथवा 'रा' से राहु और 'म' से मनसिज—चन्द्रमा है—जैसे राहु चन्द्रमा को हतप्रभ कर देता है, उसी प्रकार जो राक्षसों को हतप्रभ कर दें वे राम हैं। अथवा 'रा' से राज्य और 'म' से महीपाल। अर्थात् राज्याधिकारी महीपालों को जो धर्म मार्ग का उपदेश देते हों। जो राम नाम से ज्ञान प्राप्ति, राम ध्यान से वैराग्य, राम विग्रह की पूजा से ऐश्वर्य कराते हों वे राम हैं।

ये सब अर्थ तो औपचारिक हैं वास्तविक अर्थ तो यही है कि जिन अनन्त, नित्यानन्द स्वरूप चैतन्यमय परब्रह्म में योगीजन रमण करते हों वे ही परब्रह्म परमात्मा राम हैं। यद्यपि वे पाञ्च-भौतिक शरीर से रहित, चिन्मय अज निराकार हैं, फिर भी अपने भक्तों के प्रेमवश निराकार से नराकार बन जाते हैं। देवगण भग-वत् स्वरूप में अस्त्रादि रूप से उनकी सेवा करते हैं, वे सब भी

भगवत् स्वरूप के अन्तर्गत ही हैं। वे विष्णु अनेक रूप रूपाय हैं। कहीं वे द्विभुज होकर प्रकट होते हैं कहीं चतुर्भुज, षट्भुज, अष्टभुज दशभुज, द्वादशभुज, षोडशभुज और कहीं अष्टादश भुज बन जाते हैं। कहीं शंखचक्रादि से सुशोभित हो जाते हैं। जब विश्वरूप में प्रादुर्भूत होते हैं तब सहस्राक्ष सहस्र हस्त पादादि वाले बन जाते हैं। भिन्न भिन्न श्रीविग्रहों के रूप रंग,वाहनादि भी भिन्न-भिन्न होते हैं। उनकी शक्तियाँ सेना भी भिन्न-भिन्न होती हैं। वे परब्रह्म परमात्मा विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य तथा गणेश इन पञ्चदेवों के रूप में कल्पित किये जाते हैं। जैसा रूप वैसे वाहनों तथा सेना आदि की कल्पना भी तदनुरूप ही की जाती है। 'राम' जो है वह ब्रह्मा से वृक्ष पर्यन्त समस्त चैतन्य का वाचक है। ऐसे राम यन्त्र की दीक्षा लेकर सदा सर्वदा इसका जप करना चाहिये। राम के बिना भगवत् प्राप्ति नहीं। मनन करने से राम यन्त्र है। और जो सीताराम रूप में विराजमान् भगवान् हैं उनके प्रतीक रूप में विग्रह–यन्त्र का निर्माण किया जाता है। बिना यन्त्र प्रतीक के पूजा की जाती है, तो उससे देवता प्रसन्न नहीं होते। यहाँ आकर प्रथम खण्ड समाप्त होता है।

अब द्वितीय खण्ड में श्रीराम का रूप बताते हुए कहते हैं—"भगवान् अकारण ही लीला के लिये स्वयं ही प्रकट होते हैं। इसीलिये स्वभू कहलाते हैं। चिन्मय होने से ज्योतिर्मय, अनन्त होने पर भी परम स्वरूप वान्, देश, काल तथा वस्तु की सीमा से परे, अपने ही प्रकाश से प्रकाशित, चैतन्यात्मा होने से जीव, त्रिगुणाश्रित होने से सृष्टि, स्थिति और प्रलय के कारण हैं। यह सम्पूर्ण चराचर जगत् ओंकार तथा परमात्मा स्वरूप है। वट के बीज में जैसे वृक्ष स्थित है वैसे ही राम बीज में स्थावर जङ्गम जगत् स्थित है। र, आ, अ और म् ये राम बीज के

विभाग हैं। इनमें रकार राम वाचक और शेष तीन ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन तीनों देवों और उनकी त्रिविध शक्तियों के वाचक हैं। इस राँ बीज मन्त्र में प्रकृति पुरुष रूप सीताराम पूज्य हैं। इन्हीं से सृष्टि, स्थिति और लय है। लीलावश ही अज अनादि अरूप राम अपने को मानव रूप में मानते हैं। वे जगत् के प्राण हैं। सबकी आत्मा हैं। ऐसे सर्वात्मा श्रीराम के पाद पद्मों में प्रणाम है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार प्रणाम करके अपनी एकता का उच्चारण करे।"

सूतजी कह रहे हैं—"यहाँ आकर द्वितीय खण्ड की समाप्ति होती है।"

अब तृतीय खण्ड में राम मन्त्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं—"रामाय यह चतुर्थी विभक्ति है, इसमें राम परमात्मा वाचक है नमः जीव वाचक है। चतुर्थी विभक्ति होने से जीवात्मा और परमात्मा की एकता बतायी है। चतुर्थ्यन्त राम और नमः यह मन्त्र वाचक है, इस वाचक मन्त्र के वाच्य श्रीराम ही हैं। इन दोनों का संयोग साधकों को अभीष्ट फल का दाता है। क्योंकि नाम में और नामी में अभेद सम्बन्ध है। जिसका जो नाम होता है, वह नामी उसी नाम वाला होता ही है इसी प्रकार बीजात्मक जो 'राम्' मन्त्र है, वही राम भी है। इस मन्त्र का जो साधक जप करते हैं–उन्हें बुलाते हैं, तो भगवान् साधक के सम्मुख आ जाते हैं।"

इस प्रकार राम मन्त्र की व्याख्या करके अब उसके जप की प्रक्रिया बताते हुए कहते हैं। 'रामाय' इसमें रां, मां और यं तीन अक्षर हैं। इनमें रां बीज है, मां शक्ति है, यं कीलक बीज और शक्ति रां मां का क्रमशः दायें और बायें...

न्यास करे। और यं जो कीलक है उसका स्तनों के मध्य हृदय में न्यास करे। इस प्रकार न्यास करके अमुक कार्यार्थे विनियोग करे। क्योंकि समस्त कार्यों की सिद्धि में इसका विनियोग होता है। फिर ध्यान करे। क्योंकि भगवान् श्रीराम अनन्त परमात्मा स्वरूप हैं। वे प्रज्वलित अग्नि के सदृश तेज वाले हैं। वे अग्नि सोमात्मक-पुरुष और नारी रूप से जगत् में हैं। वे सीता के सहित उत्पन्न होकर इसी प्रकार शोभित होते हैं जैसे चन्द्रमा चन्द्रिका के सहित सुशोभित होते हैं। इसलिये उनका इस भाव से ध्यान करे—साँवली मूर्ति, पीत वस्त्र धारण किये सिर पर जटाओं को रखे, श्रीराम अपनी प्रकृति सीताजी सहित शोभित हो रहे हैं। वे दो भुजा वाले हैं, कानों में कुण्डल धारण किये हुए हैं, रत्नों की माला कण्ठ में पहिने हैं, बड़े धीर गम्भीर हैं तथा धनुष को धारण किये हुए हैं। उनका श्रीमुख सदा प्रसन्न रहता है, वे सदा विजयी होते हैं, आठों सिद्धियों से सदा विभूषित रहते हैं।

प्रकृति रूपा परमेश्वरी जगज्जननी जानकी उनके वाम अंक को विभूषित करती हैं। सीताजी के शरीर की आभा सुवर्ण के सदृश है, उनके भी दो ही भुजायें हैं, वे सर्व अलंकारों से विभूषिता हैं, एक हाथ में क्रीड़ा कमल लिये हुई हैं, उनसे सटे हुए श्रीराम बड़े ही हृष्ट-पुष्ट दिखायी दे रहे हैं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यहाँ आकर तीसरा खण्ड समाप्त होता है। अब चतुर्थ खण्ड में उसी विषय को चालू रखते हुए षडक्षर मन्त्र का स्वरूप बताते हुए कहते हैं—"ध्यान विधि में जो पीछे सीतारामजी के स्वरूप का वर्णन कर आये हैं उन दोनों के दक्षिण भाग में सुवर्ण की आभा वाले श्रीरामजी के अनुज धनुष धारण किये हुए लक्ष्मणजी स्थित हैं। इस प्रकार

श्रीसीतारामजी तो एक ओर उनके सम्मुख लक्ष्मणजी ऐसे एक त्रिकोण-सा बन जाता है।"

जिस प्रकार श्रीराम, सीताजी और लक्ष्मणजी का त्रिकोण बनता है, उसी भाँति श्रीराम के षड्-अक्षर मन्त्र का भी त्रिकोण बन जाता है। एक तो रां बीज मन्त्र दूसरा चतुर्थ्यन्त राम शब्द तीसरा नमः। रामतो ब्रह्म वाचक है नमः जीव वाचक है। इन दोनों का ऐक्य बनाने वाली चतुर्थी विभक्ति है। राम में सीता और राम दोनों ही समावेश हैं। इस प्रकार एक तो राम रूप का त्रिकोण दूसरा राम मन्त्र का त्रिकोण ये हुए।

एक बार देवताओं ने आकर कल्पवृक्ष के नीचे विराजमान् जगत् पति श्रीरामचन्द्रजी की इस प्रकार स्तुति की थी—"श्री रामचन्द्रजी! आप काम रूप हैं, मायामय हैं ऐसे आप राम के लिये नमस्कार है। आप वेदरूप हैं, ओंकार स्वरूप हैं आपको बारम्बार नमस्कार है। आप रमा जो सीताजी हैं उन्हें धारण करने वाले हैं, आप आत्मरूप हैं, रमणीय तथा अभिराम हैं, श्रीजानकीजी के देह के भूषण हैं, आप राक्षसों के हन्ता हैं, आपके समस्त अङ्ग शुभ हैं, आप भद्र स्वरूप हैं, रघुवंश में वीर हैं, रावण को मारने वाले हैं ऐसे आपको बारम्बार नमस्कार है। हे रामभद्र! हे महान् धनुर्धर! हे रघुवीर! हे समस्त राजाओं में उत्तम रघुनन्दन! आपको नमस्कार है। यहाँ आकर चतुर्थ खण्ड समस्त होता है।

पाँचवे खण्ड में भगवान् के चरित्रों को कह कहकर उनकी स्तुति करते हुए कहते हैं—"हे रावणारि भगवन्! हमारी रक्षा करो और अपने ऐश्वर्य को दो। जब तक खर नाम के राक्षस का वध किया था तब तक देवता ऋषि सब आप की स्तुति करके सुख पूर्वक स्थित रहे। खर के मारे जाने पर वन में रावण

आया। उसने वन में से सीताजी का हरण किया। उस समय सीताजी भी वन में रहती थीं। वन में से राक्षस ने सीताजी को हरा था इसलिये राक्षस में का रा और वन से सीताजी को हरण किया इसीलिये उसका नाम रावण हुआ। अथवा दूसरों को रुलाने के कारण रावण कहलाया। अथवा शिवजी द्वारा कैलास पिचा देने पर रो पड़ा या जन्म के ही समय रव-किया। इससे रावण कहलाया। वन से सीताजी के हरण होने पर उन्हे खोजने के व्याज से दोनों भाई वनों में विचरण करने लगे। कबन्ध असुर को मारकर वे शवरी के आश्रम पर आये। शबरी द्वारा सत्कृत होकर आगे चले तो मार्ग में हनुमान्जी मिले। उन्होंने दोनों भाइयों को कपिराज सुग्रीव से मिलाकर उनसे मैत्री की और अपना समस्त वृत्तान्त सुग्रीव को सुनाया। सुग्रीव के संदेह को निवारण करने हेतु दुन्दुभि के शव को दूर फेंक दिया। एक बाण से सात ताल के वृक्षों को वेध दिया। तब सुग्रीव को उनके पराक्रम पर विश्वास हो गया। इससे श्रीराम परम आनन्दित हुए। प्रसन्नता पूर्वक सुग्रीव श्रीराम को अपने नगर के निकट लेजाकर गर्जना करके बाली को बुलाया। श्रीराम ने बालि को मारकर किष्किंधा के राज्य पर सुग्रीव को स्थापित किया। यहाँ आकर पाँचवाँ खण्ड समाप्त होता है। अब छटे खण्ड में आगे के चरित्र को चालू रखते हुए कहते हैं। सुग्रीव ने सीता की सुधि लेने दशों दिशा में वानर भेजे। उनमें से हनुमान्जी ने समुद्र लाँघकर लंका में जाकर सीताजी को देखा। सीताजी का समाचार लेकर युद्ध में कुछ असुरों को मारकर, लंका को जलाकर हनुमान्जी श्रीराम के समीप लौट आये। सब सुनकर श्रीराम ने क्रोध का अभिनय किया। सब वानरों को बुलाकर, उन्हें साथ लेकर लंका पर चढ़ाई कर दी और लंका

का भली भाँति निरीक्षण करके रावण से युद्ध आरम्भ कर दिया। रावण को सपरिवार मारकर विभीषण को लंका का राज्य देकर महारानी सीताजी को साथ लेकर वे अयोध्यापुरी को चल दिये। अयोध्या में आकर वे राज्य सिंहासन पर विराजमान् हुए जो अब तक विराजमान् हैं, वे ज्ञानमयी, धनुर्मयी तथा व्याख्यानमयी मुद्रा में, स्थित होकर सबको सुख प्रदान कर रहे हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार देवताओं की स्तुति कहने के अनन्तर पुनः भगवान् की झाँकी का वर्णन करते हुए कहते हैं—"श्रीरामचन्द्रजी के वाम भाग में उनसे सटी हुई श्रीसीताजी विराजमान् हैं, दक्षिण में लक्ष्मणजी अवस्थित हैं। उत्तर में शत्रुघ्न और लक्ष्मणजी के साथ दक्षिण में ही भरतजी स्थित हैं। सम्मुख हाथ जोड़े हुए श्रोता रूप में मारुतिनन्दन हनुमान्जी खड़े हुए हैं। जो त्रिकोण बना था, उसके अन्तर्गत ही हनुमान् जी हैं। दक्षिण में ही श्रीभरतजी से नीचे कपिराज सुग्रीव अवस्थित हैं, और उत्तर में शत्रुघ्नजी के नीचे विभीषणजी खड़े हैं। लक्ष्मणजी कुछ पीछे हटकर पृष्ठ भाग में चँवर लिये अवस्थित हैं। लक्ष्मणजी से नीचे भरत शत्रुघ्न ताड़ का व्यजन लिये खड़े हैं। इस प्रकार लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न का एक नूतन ही त्रिकोण निर्माण हो जाता है। इस प्रकार यह एक षट्कोण बन जाता है। श्रीराम पहिले अपने बीज-मंत्र स्वरूप दीर्घ अक्षरों (रां, रीं, रूं, रैं, रौः और रः) से आवृत हैं। यह तो षट्कोण का प्रथम आवरण हुआ। अब द्वितीय आवरण की बात सुनिये।

द्वितीय आवरण में वासुदेव, शान्ति, संकर्षण, श्री, प्रद्युम्न, सरस्वती अनिरुद्ध और रति ये शक्ति सहित चतुर्व्यूह अग्नि कोण

आदि आठों दिशाओं में क्रम-क्रम से अवस्थित हैं। भगवान् इन सबसे संयुक्त रहते हैं। अब तृतीय आवरण की बात सुनें।

तृतीय आवरण में हनूमान, सुग्रीव, भरत, विभीषण, लक्ष्मण, अङ्गद, जाम्बवान् तथा शत्रुघ्नजी आदि हैं। तृतीय आवरण में ही धृष्टि, जयन्त, विजय, सुराष्ट्र, राष्ट्र वर्धन, अकोप, धर्मपाल और सुमन्त्र से श्रीराम आवृत हैं।

अब चतुर्थ आवरण की बात सुनिये। चतुर्थ आवरण तब बनता है जब श्रीराम इन्द्र, अग्नि, यम, निऋति, वरुण, वायु, चन्द्रमा, ईशान, ब्रह्मा और अनन्त इन दश दिग्पालों द्वारा आवृत रहते हैं। इन सब देवों की स्व स्व स्थान में पूजा करनी चाहिये। ब्रह्मा, अनन्त, इनका स्थान क्रमशः पूर्व ईशान के मध्य तथा नैऋत्य और पश्चिम के मध्य में है। इन दिग्पालों के बाह्य भाग में आयुध हैं। उसी आवरण में नल आदि वानर तथा वसिष्ठ वामदेवादि ऋषि भगवत् उपासना में संलग्न रहते हैं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार इस षष्ठ खण्ड में आवरण पूजा के लिये यन्त्रस्थ देवताओं का निरूपण किया है। अब सप्तम खण्ड की बात सुनिये।"

सप्तम खण्ड में इसी पूजा यंत्र का विस्तृत वर्णन है कि किस स्थान में कौन से बीज मन्त्र को कहाँ लिखे। इसी प्रकार अष्टम खण्ड में आगे के अङ्गों का वर्णन है, नवम खण्ड में भी पूजा मन्त्र के शेष भागों का ही वर्णन करके अन्त में सैंतालीस अक्षरों वाले माला मन्त्र का वर्णन है। जिन्हें श्रीराम यन्त्र का निर्माण करना हो, उन्हें मूल उपनिषद् को देखकर ही करना चाहिये।

अब दशवें खण्ड में पूजा की विधि का विस्तार के साथ

वर्णन किया है। प्रथम द्वार पूजा करके पद्मासन से स्थित हो। फिर पञ्चभूतादि शुद्धि करे। सिंहासन पीठ के अधो भाग, ऊर्ध्व भाग, पार्श्वभाग में देव पूजन, पीठ के ऊपर मध्यभाग में अष्टदल कमल का पूजन करके फिर जहाँ-जहाँ, जो-जो देवता हों उनके मन्त्रों से तत्-तत् स्थानों में उन सबकी पूजा करे। वह पूजा विधि भी मूल में ही देखनी चाहिये। इस प्रकार पूजा करके फिर भगवान् श्रीरामचन्द्र की इस प्रकार स्तुति करे—जो इस प्रकार की महिमा वाले, जगत् के आधार भूत, सच्चिदानन्द रूप श्रीराम हैं उनको मैं वन्दना करता हूँ।

जो गदा, चक्र, शङ्ख तथा पद्म को धारण किये हुए हैं, जो भव-संसार के शत्रु हैं उनका ध्यान करने से मोक्ष प्राप्त होती है। विश्वव्यापी राघव जब अन्तर्धान हुए थे तब शङ्ख, चक्र, गदा तथा पद्म आदि आयुधों सहित सशरीर अन्तर्हित हुए थे। वे सीताजी, पुरजन, परिजन, भाइयों, प्रजाजन, विभीषणादि के साथ तथा शत्रु के वंशजों सहित परमधाम में पधारे थे। श्रीरामचन्द्रजी के भक्त समस्त कामनाओं को प्राप्त करके, सभी दिव्य भोगों का उपभोग करके, अन्त में परमपद को प्राप्त होते हैं।"

सूतजी कह रहे हैं—"इस प्रकार श्रीराम का ध्यान बताकर अब उस श्रीराम पूर्वतापनीय उपनिषद् का माहात्म्य बताते हुए कहते हैं—"जो पुरुष समस्त कामनाओं और सभी अर्थों को देने वाली जो इन ऋचाओं को पढ़ते हैं, वे मल रहित होकर मोक्ष को प्राप्त होते हैं, निश्चय ही अमल होकर मोक्ष के अधिकारी होते हैं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार मैंने श्रीराम

पूर्वतापनीय उपनिषद् की अत्यंत सार कथा सुना दी। अब आप श्रीराम उत्तरतापनीय उपनिषद् का सार श्रवण करें।"

छप्पय

रामयन्त्र विधि सहित पूजि पूजक सुख पावै।
रामहि माला मन्त्र वर्ण सैंतीस कहावै॥
राम कृपा तें भक्त तीन गुन पार करैगो।
राम नाम अरु यन्त्र पूजि भव उदधि तरैगो॥
राम ऋचनि कूँ जे पढ़ैं, तिनिके भवबन्धन कटें।
राम लोक में जायँ ते, तीनि गुननि ऊपर उठें॥

इति श्रीराम पूर्वतापनीय उपनिषद्–
सार समाप्त

(५८) श्रीराम-उत्तरतापनीय-उपनिषद्-सार

[३२२]

मुमूर्षोर्दक्षिणे कर्णे यस्यकस्यापि वा स्वयम् ।
उपदेक्ष्यसि मन्मन्त्रं स मुक्तो भविता शिवेति: ॥ *

(श्रीरा० उ० ता० उ० ८ मं०)

छप्पय

क्षेत्र कह्यो अविमुक्त कर्यो तप जहँ शिवशंकर।
दयो विष्णु वर होइ मुक्तिदाता यह थल-वर॥
तारक मंत्र महात्म्य महामहिमा जतलाई।
द्वै भौंहनि के मध्य पुरी काशी बतलाई॥
काशी जो वाराणसी, प्राण तजत जे जीव जहँ।
शिव देवैं तिनि कान में, तारक मोक्षद मन्त्र तहँ॥

श्रीराम उत्तरतापनीय-उपनिषद् भी अथर्ववेदीय उपनिषद् है, इसका भी शांति पाठ भद्रं कर्णेभिः इत्यादि है। इसमें पूर्व तापनीय के प्रकरण को ही चालू रखते हैं, अविमुक्त क्षेत्र काशी

---

* श्रीरामचन्द्रजी शिवजी से कह रहे हैं—"हे शिव ! जो मरणासन्न व्यक्ति कोई भी क्यों न हो। जिसके कान में आप काशी में मेरे मंत्र का उपदेश कर देंगे, वह मुक्त हो जायगा।"

की महिमा बताते हुए तारक मन्त्र जो राम नाम है उसके माहात्म्य का वर्णन है। यह देवगुरु बृहस्पति और याज्ञवल्क्यजी के सम्वाद रूप में है।

एक बार समस्त देवताओं के पुरोहित श्रीबृहस्पतिजी ने ऋषि श्रेष्ठ भगवान् याज्ञवल्क्यजी से पूछा—"ब्रह्मन्! आप मुझे उस तीर्थ के सम्बन्ध में बताइये, जो पवित्र धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र से भी श्रेष्ठ हो, जो देवताओं का यजन और समस्त प्राणियों के लिये ब्रह्म सदन स्थल हो ?"

इसका उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"तुम्हारे प्रश्न में जो गुण पूछे गये हैं, उन सब गुणों से विशिष्ट अविमुक्त काशी क्षेत्र ही है। यहाँ मरते समय शिवजी सबके कानों में तारक-ब्रह्म का उपदेश करते हैं। इसलिये काशी अविमुक्त क्षेत्र का कभी परित्याग न करे।"

इस पर भरद्वाजजी ने याज्ञवल्क्यजी से पूछा—"भगवन्! तारक मन्त्र क्या है और तरता कौन है ?"

इस पर याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"दीर्घ अकार सहित अग्नि बीज और उसके ऊपर अर्धचन्द्रानुसार। फिर दीर्घ रकार फिर दीर्घ मकार यकार और नमः यही तारक मंत्र कहलाता है। राम के सहित चतुर्थ्यन्त चन्द्र और नमः तथा राम के साथ चतुर्थ्यन्त भद्र और नमः ये भी तारक मन्त्र ही हैं। ये तीनों ही तारक मन्त्र हैं। ये तीनों क्रम से प्रणव स्वरूप, तत्स्वरूप और ब्रह्म स्वरूप हैं। ये उपास्य हैं। ओंकार रूप कैसे हैं ? ओंकार रूप तो यों हैं ओंकार में भी (अकार, उकार, मकार, अर्धमात्रा, अनुस्वार और नाद) ये छः अक्षर हैं और तारक मन्त्र में भी छः ही अक्षर हैं। अथवा ओंकार और रां बीज मन्त्र यही तारक है। तारक इसका नाम क्यों है ? इसलिये कि यह

जन्म, जरा, गर्भ और मृत्यु के समस्त भयों से तार देता है, इसलिये इसे तारक कहते हैं। जो ब्रह्मज्ञानी इसका सतत जप करता रहता है, वह समस्त पापों से पार होकर मृत्यु के पार पहुँच जाता है। वह ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या, वीर हत्या तथा सम्पूर्ण हत्याओं तथा अन्यान्य सभी पापों से संसार रूपी सागर से तर जाता है, उसके लिये वह जहाँ भी रहता है, वहीं काशी हो जाती है।

प्रणव में पूर्वोक्त छैः अक्षर हैं। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय चार अवस्थायें तथा चतुर्व्यूह में संकर्षण-प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और वासुदेव ये चार हैं। चारों अवस्थाओं के विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय ये चार अभिमानी देव हैं। ये चतुर्व्यूह के चारों संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और वासुदेव क्रमशः लक्ष्मण, शत्रुघ्न, भरत और श्रीराम स्वरूप हैं। इसी प्रकार ये क्रमशः चारों अवस्थाओं, उन चारों के अभिमानी देवों और प्रणव के चारों अक्षरों के रूप हैं। अब प्रणव के छैः अक्षरों में से बचे नाद और बिन्दु–दो अक्षर, सो दोनों सीताजी के स्वरूप हैं, ये मूल प्रकृति रूपा हैं। इन्हें प्रकृति क्यों कहते हैं ? इसलिये कि (प्र=प्रणव उसकी कृति स्वरूपा हैं) ये प्रणव से अभिन्ना हैं।

प्रणव में और परमात्मा में अभेद हैं। यह सम्पूर्ण चराचर विश्व प्राण स्वरूप है परमात्म स्वरूप है उन परमात्मा के चार पाद हैं। वे चार पाद कौन-कौन से हैं ? पहिला पाद तो जाग्रत रूप वैश्वानर है, जो बहिः प्रज्ञ, सप्तलोकाङ्ग, उन्नीस समष्टि करण (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण और चार अन्तः-करण) वाला है। वे स्थूलभुक् वैश्वानर स्वरूप प्रथम पाद लक्ष्मणजी हैं। ये शेषावतार होने से अखिल विश्व के आश्रय हैं इसीलिये वैश्वानर कहाते हैं। दूसरा पाद स्वप्नावस्था वाला

तैजस है उसके प्रतीक शत्रुघ्नजी हैं। ये स्वप्नस्थान, अन्तः प्रज्ञ, प्रद्युम्न स्थानीय, सप्ताङ्ग, प्रविविक्तभुक् हैं इकोनविंशति-मुख हैं।

तीसरा पाद सुषुप्ति अवस्था वाला जो न कुछ चाहता है न स्वप्न ही देखता है, वह एकीभूत, प्रज्ञान घन, आनन्द भुक्, चेतो-मुख, भरत स्वरूप प्राज्ञ हैं।

चौथे पाद तो श्रीराम स्वयं हैं, जो शान्त, शिव अद्वैत हैं, वे भक्तों के अज्ञान हर्ता, आनन्दमूर्ति, सत्तामात्र, तम मोह से सर्वथा रहित हैं। साधक को यह भावना करनी चाहिये वह ॐ, तत्, सत्, पत् तथा परं ब्रह्म नाम से जो कहे जाते हैं, वे श्रीरामचन्द्र मैं ही हूँ। प्रणव, सच्चिदानन्दमय, परम ज्योति स्वरूप श्रीरामचन्द्र मैं ही हूँ। इस प्रकार अपने को सम्मुख लाकर श्रीरामचन्द्रजी के साथ अपनी एकता का अनुभव करना चाहिये। अपनी और उनकी अभिन्नता का चिन्तन करना चाहिये। जो ऐसा चिन्तन करते हैं, वे रामरूप हो जाते हैं, वे संसारी नहीं रह जाते। यही उपनिषद् है, जो इसे इस प्रकार जानता है, वह मुक्त हो जाता है।" ऐसा याज्ञवल्क्यजी ने कहा है।

तदनन्तर महर्षि अत्रि ने याज्ञवल्क्यजी से पूछा—"भगवन्! जो परमात्मा अनन्त तथा अव्यक्त है, उसे किस प्रकार हम जान सकते हैं ?"

तब याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"यह अनन्त अव्यक्त आत्मा अविमुक्त क्षेत्र में प्रतिष्ठित है, अतः उसी क्षेत्र में उपासना करने से वह जाना जा सकता है।"

अत्रि मुनि ने पूछा—"अविमुक्त क्षेत्र है कहाँ ?"

याज्ञ०—अविमुक्त क्षेत्र वारणा तथा नाशी के मध्य में स्थित है।"

अत्रि०—"वारणा क्या ? नाशी क्या ?"

याज्ञ०—"जो इन्द्रिय कृत समस्त दोषों का वारण करे वह वारणा, जो उन सब दोषों का नाश करे वह नाशी।"

अत्रि०—"इसका आध्यात्मिक स्थान शरीर में कहाँ है ?"

याज्ञ०—"भौंहों और नासिका की जहाँ सन्धि है—दोनों भौंहों के मध्य में-वही द्युलोक है, उससे भी उत्कृष्ट ज्योतिर्मय परम धाम की सन्धि का स्थान है। सन्धि होने से उसे सन्ध्या भी कहते हैं। द्विजातिगण उसी सन्ध्या की उपासना किया करते हैं, वहीं अविमुक्त क्षेत्र है, वहीं श्रीराम की उपासना करनी चाहिये। इस प्रकार आदि भौतिक क्षेत्र काशी और आध्यात्मिक अर्थ दोनों भौंहों के मध्य का स्थान उसी में अव्यक्त श्रीराम की उपासना करे। काशी अविमुक्त क्षेत्र कैसे हैं इस सम्बन्ध में एक कथा है—

एक बार शिवजी ने काशी में सहस्र मन्वन्तर तक रहकर भगवत् उपासना की। उनके तप से प्रसन्न होकर भगवान् प्रकट हुए और शिव से अभीष्ट वर माँगने को कहा। तब शिवजी ने कहा—"मेरे इस काशी क्षेत्र में गङ्गा तट पर जिसकी मृत्यु हो जाय, वह मुक्त हो जाय, यही मैं चाहता हूँ।"

भगवान् ने कहा—"हे शिवजी ! ऐसा ही होगा। आपके इस क्षेत्र में कीट पतंग जो भी जीव मरेंगे, वे सब मुक्त हो जायँगे। आप या ब्रह्माजी जिनके कान में तारक मंत्र कह देंगे, वे निश्चय ही मुक्ति के अधिकारी हो जायँगे।"

श्रीभगवान् रामचन्द्रजी के वरदान से तभी से काशी मुक्तिदायिनी हो गयी, जो इस क्षेत्र का दर्शन करता है, यहाँ प्राणों

का परित्याग करता है, उसके जन्मजन्मान्तर के समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं।

इसके अनन्तर भरद्वाज ने याज्ञवल्क्यजी से पूछा—"भगवन्! जिन मन्त्रों से श्रीरामचन्द्रजी की प्रसन्नता प्राप्त होती है और वे अपने स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन करा देते हैं, उन मन्त्रों को हमें और बता दें।"

इस पर महर्षि याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"भरद्वाजजी! जैसे शिवजी ने तप किया था उसी प्रकार ब्रह्माजी, ने भी एक समय घोर तप किया था, तब भगवान् ने उन्हें अभीष्ट वर दिया। इस पर ब्रह्माजी ने गायत्री गाथा से उन्हें नमस्कार किया था। वह गायत्री गाथा सैंतालीस मन्त्रात्मक है।"

शौनकजी ने पूछा—"सैंतालीस मन्त्रात्मक ही गायत्री क्यों है?"

तब सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! पीछे हम बता आये हैं कि श्रीराम मन्त्रराज सैंतालीस अक्षरों का माला मन्त्र है। उस मन्त्र-राज के प्रत्येक अक्षरानुसार यह सैंतालीस मन्त्रों वाली श्रीराम गायत्री है। इन मन्त्रों से जो प्रतिदिन भगवान् श्रीरामचन्द्रजी की स्तुति करता है, उस पर श्रीरामचन्द्रजी प्रसन्न होते हैं और उसे प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"वे सैंतालीस मन्त्र कौन-कौन से हैं?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! श्रीरामचन्द्रजी के सैंतालीस मुख्य नाम हैं। वे इस प्रकार हैं-(१) अद्वैतपरमानन्दात्मा यत् परंब्रह्म (२) अखण्डैकरसात्मा, (३) ब्रह्मानन्दामृतम्, (४) तारकं ब्रह्म, (५) ब्रह्मा विष्णुरीश्वरः (६) ये सर्वे वेदाः साङ्गाः स शास्त्राः सपुराणा, (७) जीवात्मा, (८) सर्वभूतान्तरात्मा, (९) ये देवासुर मनुष्यादि भावा, (१०) ये मत्स्य कूर्माद्यवतारा, (११)

प्राण, (१२) अन्तःकरण चतुष्टयात्मा' (१३) यम, (१४) अन्तक, (१५) मृत्यु, (१६) अमृत, (१७) यानि पञ्चमहाभूतानि, (१८) स्थावरजङ्गमात्मा, (१९) ये च पञ्चाग्नयः, (२०) याःसप्त महाव्याहृतयः, (२१) विद्या, (२२) सरस्वती, (२३) लक्ष्मी, (२४) गौरी, (२५) जानकी, (२६) त्रैलोक्यम (२७) सूर्यः, (२८) सोमः (२९) यानि नक्षत्राणि, (३०) ये चाष्टौलोकपालाः, (३१) ये चाष्टौवसवः (३२) ये चैकादश रुद्राः,(३३) ये च द्वादश आदित्याः, (३४) भूतं भव्यं भविष्यद्, (३५) ब्रह्माण्डस्यान्तर्बहिर्व्याप्नोति, (३६) हिरण्यगर्भः, (३७) प्रकृति, (३८) ओङ्कार, (३९) चतस्रो अर्ध मात्रा (४०) परम पुरुषः,(४१) महेश्वरः,(४२) महादेवः(४३) ॐ नमो भगवतेवासुदेवाय, (४४) परमात्मा, (४५) विज्ञानात्मा, (४६) सच्चिदानन्दैकरसात्मा,(४७) ये च नवमङ्गाः । ये सैंतालीस भगवान् के नाम हैं। इनमें पहिले प्रणव लगावे, फिर यो वै, तदनंतर श्रीरामचन्द्रः प्रथमांत नाम लगावे फिर स भगवान् लगावे। फिर यः लगाकर एक-एक नाम लगाता जाय। बहुवचनात्मक हो तो ये लगावे। स्त्रीलिङ्ग पार्वती, लक्ष्मी, जानकी आदि हो तो या लगावे। नाम के अन्त में भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै इसको लगावे। अन्त में नमो नमः लगावे। इस प्रकार ४६ नामों से ये सैंतालीस मन्त्र बन जाते हैं। दूसरे, तीसरे, तेरहवें, चौदहवें, पन्द्रहवें, सोलहवें, उन्नीसवें, छब्बीसवें, उन्तीसवें, तीसवें, इकत्तीसवें, बत्तीसवें, तैतीसवें, चौंतीसवें, पैंतीसवें, छत्तीसवें, उन्तालीसवें, चालीसवें, व्यालीसवें, तैंतालीसवें, इनमें भगवान् के पश्चात् ये अथवा यः के आगे च और लगाना चाहिये। शेष मन्त्रों में च नहीं इस प्रकार सैंतालीस मन्त्र बन जाते हैं।

इन सबका एक ही अर्थ है—ओंकार स्वरूप जो ... भगवान् रामचन्द्रजी हैं वे अमुक नाम वाले हैं तथा भूर्भुव

त्रिलोक स्वरूप हैं। उन श्रीरामचन्द्रजी को निश्चय रूप से मेरा बारम्बार नमस्कार है।

ये सैंवालीस मन्त्र हैं इनसे नित्य ही जो श्रीराम की स्तुति करता है, उससे देव श्रीराम प्रसन्न होते हैं। जो इन मन्त्रों से स्तुति करता है उससे देव प्रसन्न होते हैं, वह अमृतत्व को प्राप्त होता है, निश्चय ही वह अमृतत्व को प्राप्त होता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में श्रीराम उत्तरतापनीय उपनिषद् का सार सुनाया। अब आप वासुदेव उपनिषद् का सार श्रवण करें।"

छप्पय

सैंतालिस पुनि मन्त्र कहे जिनि पाठ करत नित।
तिनिके सब अघ नसैं शुद्ध है जावे तिनि चित॥
प्रभु प्रसन्न है जायँ शरन अपनी में लेवैं।
रामचन्द्र प्रत्यक्ष, दरस साधककूँ देवैं॥
यह रामोत्तर, तापनी, कही उपनिषद् भव्य अति।
पढ़ैं सुनैं जे प्रेमतैं, तिनिकी होवे विमल मति॥

इति श्रीराम-उत्तरतापिनीय उपनिषद्-सार-समाप्त

(५९) वासुदेव-उपनिषद्-सार

[३२३]

ऊर्ध्वदण्डोर्ध्वरेताश्च ऊर्ध्वपुण्ड्रोर्ध्वयोगवान् ।
ऊर्ध्वं पदमवाप्नोति यतिरूर्ध्वचतुष्कवान् ॥*
(वासुदेवोपनिषदे)

छप्पय

वासुदेव उपनिषद् कही नारद तैं श्रीहरि ।
गोपीचन्दन तत्त्व कह्यो भगवान् कृपा करि ॥
प्रभु वैकुण्ठहिँ लाइ द्वारका चक्र तीर्थ महँ ।
थापित जगहित करयो पीत रँग नित्य रहत तहँ ॥
बारह अंगनि गृही प्रभु, नामनि लै धारन करैं ।
ते पावैं नर परमपद, अमर होइँ नहिं ते मरैं ॥

हमारे यहाँ शास्त्रों में दो प्रकार के तिलक बताये गये हैं । एक तो ऊर्ध्व पुण्ड्र, एक त्रिपुण्ड्र । पुण्ड्र शब्द का अर्थ है, ईख । जैसे ईख के दण्ड होते हैं, वैसी आकृति मस्तक पर बना लेना । इस सम्बन्ध की महाभारत में एक कथा है, एक बार भगवान् विष्णु

---

*जिसका दण्ड ऊर्ध्व रहता है, जो ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी हैं, जिसने मस्तक पर ऊर्ध्व पुण्ड्र धारण कर रखा हो और जो ऊर्ध्व योगवान् हो, वह ऊर्ध्वलोक को प्राप्त होता है । यति सन्यासी के ये चारों ऊर्ध्व रहते हैं ।

और महादेवजी में प्रेमालाप हुआ, उस समय दोनों में चिन्हों की अदला-बदली हुई। शिवजी ने अपना त्रिशूल का चिन्ह विष्णु भगवान् को दिया और कहा—"जो विष्णु भक्त मेरे त्रिशूल का चिन्ह अपने मस्तक पर धारण करें उनसे आप प्रसन्न हों और भगवान् विष्णु ने अपने चक्र का चिन्ह शिवजी को दिया कि जो शिव भक्त शैव अपने मस्तक पर मेरे चक्र का चिन्ह धारण करें, उन पर आप प्रसन्न हों। अतः यह ऊर्ध्वपुण्ड्र तो शिवजी के त्रिशूल का चिन्ह है और त्रिपुण्ड्र भगवान् के चक्र का चिन्ह है।

शिव और विष्णु की एकता का यह कितना उत्तम दृष्टान्त है। हमारे शैव और वैष्णव भाई इस रहस्य को समझकर परस्पर में प्रेम और एकता के साथ रहें, एक दूसरे का आदर करें, तो परस्पर में असहिष्णुता रहे ही नहीं। ऊर्ध्वपुण्ड्र और त्रिपुण्ड्र में इतना ही अन्तर है। जो नासिका के मूल से लेकर मस्तक के अन्त-केश पर्यन्त—सीधा लगाया जाय, उसे ऊर्ध्व पुण्ड्र कहते हैं। और जो पड़ी लकीर के रूप में तीन लगायी जायँ उन्हें त्रिपुण्ड्र कहते हैं। पहिले वर्णाश्रमी द्विजगण बिना किसी भेद भाव के त्रिपुण्ड्र और ऊर्ध्व पुण्ड्र दोनों ही प्रकार के तिलक लगाया करते थे। ब्रह्माण्ड पुराण के आन्हिक तत्त्व प्रकरण में बताया है—ब्राह्मण को ऊर्ध्व पुण्ड्र तिलक करना चाहिये, क्षत्रिय को त्रिपुंड्र करना चाहिये,वैश्य को अर्धचन्द्राकार तिलक करना चाहिये, शूद्र को गोल बिंदी लगानी चाहिये। इस प्रकार पहिले चारों वर्णों के वेषभूसा, सदाचार पहनाव सब पृथक्-पृथक् होते थे। यहाँ तक कि दँतौन में भी १२ अंगुल की ब्राह्मण की, १० अंगुल की क्षत्रिय की ८ अंगुल की वैश्य की और ६ अंगुल की शूद्र की हो। सब कामों से यह बिना पूछे स्पष्ट हो जाय, कि यह किस वर्ण का है।

वर्णाश्रम धर्म के शिथिल हो जाने पर स्मृतिकारों ने यह नियम बनाया कि जिनकी शिवागम के अनुसार दीक्षा हुई हो, अर्थात् जो शैव हों, वे तो चाहें किसी भी वर्ण के हों-त्रिपुण्ड्र धारण करें और जिनको विष्णु आगम के अनुसार दीक्षा हुई हो-अर्थात् जो वैष्णव हों-वे ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करें।* तिथ्यादि तत्त्व ग्रन्थ में लिखा है, कि विना त्रिपुंड्र भस्म और रुद्राक्ष के शिव पूजन निष्फल हो जाता है। श्राद्ध कर्मों में त्रिपुंड्रादि का निषेध लिखा है।

ऊर्ध्वपुंड्र को मिट्टी से करने का विधान है, त्रिपुंड्र को भस्म से और चन्दन को त्रिपुंड्र अथवा ऊर्ध्वपुंड्र कैसे भी लगा लो। उसकी सब प्रकार से छूट है।卐

ऊर्ध्वपुंड्र को यह नहीं कि जहाँ की मिट्टी मिल जाय, उसी मिट्टी से कर ले। उसके लिये मिटटी विशेष होती है। गोपीचन्दन तालाब की मिट्टी-जो गुजरात में द्वारका के समीप है-जहाँ गोपिकाओं ने श्रीकृष्ण विरह में अपने भौतिक शरीरों का परित्याग कर दिया था, उस गोपीचन्दन तालाब की मृत्तिका का अथवा चक्रतीर्थ की जहाँ चक्रतीर्थ स्थित है वहाँ की पीली मिट्टी का माहात्म्य अत्यधिक है। कुछ वैष्णव सफेद मिट्टी के तिलक करते हैं, कुछ चित्रकूट की पीली मिट्टी से करते हैं। पुण्य क्षेत्रों की मृत्तिका तो सर्वश्रेष्ठ है ही।

---

* शिवागमे दीक्षितैस्तु धार्यं तिर्यक् त्रिपुण्ड्रकम्।
विष्णवागमे दीक्षितस्तु ऊर्ध्वं पुण्ड्रं विधारयेत्॥
(अमृत संहितायाम्)

卐 ऊर्ध्वं पुण्ड्रं मृदा कुर्यात् त्रिपुण्ड्रं भस्मना सदा।
तिलकं वै द्विजः कुर्यात् चन्दनेन यदृच्छया॥
(ब्रह्माण्ड पुराणे)

वासुदेव-उपनिषद् में गोपीचन्दन का महत्त्व और उसके धारण की विधि स्वयं भगवान वासुदेव ने बतायी है। यह छोटी-सी सामवेद य उपनिषद् है "आप्यायन्तु" आदि इसका शान्ति पाठ है। देवर्षि नारद और भगवान् वासुदेव का इसमें सम्वाद है। एक बार देवर्षि नारद भगवान् वासुदेव के समीप गये और उनको नमस्कार करके उनसे कहने लगे—"भगवन्! आप मुझे ऊर्ध्वपुंड्र तिलक लगाने की विधि, मन्त्र तथा स्थानादि के सम्बन्ध का पाठ पढ़ावें।"

यह सुनकर भगवान् वासुदेव ने कहा—"देखो, नारदजी! मेरे अङ्गों में गोपियों ने जो चन्दन लगाया था, वह चन्दन मैंने वैकुंठ धाम से लाकर द्वारका के चक्र तीर्थ में स्थापित किया था, वह चन्दन कुंकुमादि सहित पीला होने से-विष्णु चन्दन या गोपीचन्दन कहा जाता है। वह मुक्ति देने वाला चन्दन है, उसे ब्रह्मादि देव भक्तगण मस्तक पेर धारण करते हैं, उस वैकुंठधाम में उत्पन्न चन्दन को ही धारण करना चाहिये।"

पहिले गोपीचन्दन को नमस्कार करके उसे आदर सहित उठावे फिर उसको इस भाव से प्रार्थना करे—'हे गोपी-चन्दन! तुम पाप को नाश करने वाले हो, तुम भगवान् विष्णु की देह से समुत्पन्न हो, हे चक्र द्वारा अंकित! आपको नमस्कार है। आप धारण करने से मुक्ति दाता हो ओ।"

इस प्रकार चन्दन की प्रार्थना करके 'इमं मे गङ्गे' इस मन्त्र से जल ले। 'विष्णोर्नु कं वीर्याणि' इस मंत्र से चन्दन का मर्दन करे-घिसे—

फिर 'अतो देवा अवन्तु नो०' इत्यादि मंत्र से तथा विष्णु गायत्री से उसे तीन बार अभिमंत्रित करे। फिर भगवान् की इस भाव से स्तुति करे—"हे शङ्ख चक्र तथा गदा को हाथ में धारण

करने वाले! हे द्वारकावासिन्! हे अच्युत! हे गोविन्द! हे पुंडरीकाक्ष! मैं जो आपका शरणागत हूँ ऐसे मुझ दीन की आप रक्षा करें।"

भगवान् वासुदेव नारदजी से कह रहे हैं– "सो, नारदजी, इस भाँति मेरा ध्यान करके अनामिका उँगली से (१) ललाट, (२) उदर, (३) हृदय, (४) कंठकूप, (५) दायीं कुक्षि, (६) बाईं कुक्षि, (७) दायीं भुजा, (८) बायीं भुजा में, (९) कानों में, (१०) पीठ, तथा (११) ककुत् (गर्दन के पीछे) और (१२) मस्तक में क्रमशः (१) केशव, (२) नारायण, (३) माधव, (४) गोविन्द, (५) विष्णु, (६) वामन, (७) मधुसूदन, (८) श्रीधर, (९) त्रिविक्रम, (१०) पद्मनाभ, (११) दामोदर और (१२) वासुदेव इन १२ नामों से अथवा विष्णु गायत्री से बारह स्थानों में द्वादश तिलक धारण करे। ये जो गृहस्थी की विधि है ब्रह्मचारी अथवा वानप्रस्थ अनामिका से ही (१) ललाट, (२) कण्ठ, (३) हृदय और कन्धों के पास। बाहु मूल में क्रमशः(१) कृष्ण, (२) सत्य, (३) सात्वत, (४) शौरि और (५) जनार्दन इन नामों से पाँच स्थानों में तिलक धारण करे। संन्यासी अनामिका से न लगाकर तर्जनी उँगली से प्रणव द्वारा सिर, ललाट तथा हृदय पर चन्दन लगाये। ऊर्ध्वपुंड्र में तीन रेखायें हैं। ये तीनों रेखायें त्रिदेव, त्रिव्याहृति, तीन छन्द, तीन वेद, तीन स्वर, तीनों अग्नियों, तीन ज्योति लोकों, तीन कालों, तीनों अवस्थाओं, तीनों पुंड्र (क्षर, अक्षर, परमात्मा) प्रणव की तीनों मात्राओं के प्रतीक हैं। जैसे अकार उकार और मकार मिलकर प्रणव बनता है, वैसे ही ये तीनों रेखायें मिलकर प्रणव स्वरूप हो जाती हैं। इसलिये ऊर्ध्वपुंड्र को धारण करना चाहिये।"

परमहंस प्रणव के द्वारा ललाट में एक ही ऊर्ध्वपुंड्र

धारण करे। तत्त्व प्रदीप प्रकाश के सदृश स्वात्मा को अवलोकन करता हुआ मेरे सायुज्य को प्राप्त होता है। अथवा दूसरे संन्यासी न्यस्त हृदय ऊर्ध्वपुंड्र के मध्य में, हृदय कमल के मध्य में, नीले मेघ के मध्य में जैसे बिजली प्रकाशित होती है, जैसे ऊर्ध्वमुख अग्नि शिखा प्रकाशित होती है। इसी अग्नि शिखा के मध्य में परमात्मा विराजमान् हैं। प्रथम हृदयस्थ ऊर्ध्वपुंड्र में भगवान की भावना करे। जो हृदय कमल में आत्मस्वरूप परमात्मा का ध्यान करता है, वह मुक्त हो जाता है। अथवा भक्ति द्वारा जो सच्चिदानन्द स्वरूप मुझे जान जाता है कि मैं अव्यय हूँ, ब्रह्म हूँ आदि मध्य से रहित स्वयं प्रकाश हूँ, तो वह भी मुक्त हो जाता है।"

देखो, मैं विष्णु एक ही हूँ, जंगम तथा स्थावरों में अनेक रूपों से स्थित हूँ। जिस प्रकार तिलों में तेल, काष्ठ में अग्नि, दुग्ध में घृत, पुष्प में गन्ध व्याप्त है, वैसे ही जगत् के समस्त पदार्थों में मैं व्याप्त हूँ। मैं सबके बाहर, भीतर, मध्य में सर्वत्र सभी में व्याप्त हूँ। फिर भी मैं शरीर से रहित, सभी भूतों में समान रूप से स्थित हूँ।

तीन स्थान मुख्य हैं। दोनों भौंहों का मध्य स्थान, हृदय और ब्रह्मरन्ध्र। इन स्थानों में चेतना को प्रकाशित करने वाले मुझ हरि का ध्यान करे। इन तीनों स्थानों को गोपीचन्दन से अनुलिप्त करके मेरा ध्यान करे तो परमपद को प्राप्त कर ले। संन्यासी को चाहिये अपने दण्ड को ऊँचा रखे, मस्तक पर ऊर्ध्वपुंड्र धारण करे। ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी बना रहे और ऊर्ध्व योगवान् हो। इन चारों से जो ऊर्ध्ववान् है उसे निश्चय ही ऊर्ध्वपद प्राप्त होता है। यह निश्चित ज्ञान है। यह मेरी भक्ति से स्वयं ही सिद्ध हो जाता है। इसलिये नित्य ही एकाग्रभक्ति से गोपीचन्दन

को धारण करना चाहिये । विशेषकर पवित्र वैदिक ब्राह्मणों को तो गोपीचन्दन को जल में घिसकर ऊर्ध्व पुंड्र धारण करना ही चाहिये । कहीं गोपीचन्दन न मिल सके तो मुमुक्षु पुरुष को अपरोक्ष दर्शन की सिद्धि के निमित्त तुलसीजी की जड़ की नीचे की मिट्टी से तिलक धारण करना चाहिये ।

अति रात्रि में अग्निहोत्र की भस्म से, अग्नेर्भस्मासि० इस मन्त्र से भस्म उठाकर इदं विष्णु इस मंत्र से उसे जल में मल-कर त्रीणिपदादि मंत्र से अथवा विष्णु गायत्री से या प्रणव से सम्पूर्ण देह में मल लें । इस प्रकार जो गोपीचन्दन को धारण करता है, अथवा इसका अध्ययन करता है वह सभी प्रकार के पापों से छूट जाता है । जिसने ऐसा किया उसने सभी तीर्थों में स्नान करने का फल प्राप्त कर लिया । उसने समस्त यज्ञ कर लिये वह सब देवताओं द्वारा पूजित हो चुका, उसकी मुक्त नारायण में अचला भक्ति हो जाती है । वह सम्यक ज्ञान को प्राप्त करके विष्णु सायुज्य को प्राप्त करता है । उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती, अर्थात् उसको मोक्ष हो जाती है ।" इस प्रकार भगवान् वासुदेवजी ने नारदजी से कहा था । जो इस उपनिषद् का अध्ययन करता है, उसकी भी इसी प्रकार मुक्ति हो जाती है । ॐ तत् सत् ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार मैंने आपसे यह वासुदेव उपनिषद् का सार कहा-अब आप मुद्गल उपनिषद् का सार श्रवण करने की कृपा करें । यह उपनिषद् सुप्रसिद्ध वेद के पुरुष सूक्त की एक प्रकार से व्याख्या ही है ।"

छप्पय

द्विज द्वादश इस्थान गृही धारे सुख पावे।
ब्रमचारी अरु बनी पाँच ही अंग लगावे॥
यति ललाट, सिर हिये प्रणव तैं धारन करि हैं।
ऊर्ध्व पुण्ड्रकूँ धारि न पुनि भव जल निधि परि हैं॥
हृदय कमल के मध्य में, विद्युत् ज्यों घनश्याम में।
ध्यावें तिलकहिं धारिकें, ते जावें प्रभु धाम में॥

इति वासुदेव उपनिषद्-सार समाप्त

(६०) मुद्गल-उपनिषद्-सार

[३२४]

एको देवो बहुधा निविष्ट
अजायमानो बहुधा विजायते ।
तमेतमग्निरित्यध्वर्यव
उपासते । यजुरित्येषहीदं सर्वं युनक्ति ॥*
(मुद्गल उपनिषद्)

छप्पय

मुद्गल मुनि उपनिषद् पुरुष सूक्तहिं बतलावें ।
पुरुष सूक्त जग विदित सार संक्षिप्त सुनावें ॥
महापुरुष परपुरुष चार अंशनि महँ प्रकटहु ।
वासुदेव अहिशेष सु-प्रद्युम्नहु अनिरुद्धहु ॥
एक पाद में यह जगत, तीन पाद पारम परम ।
सृष्टि करी अज प्रकृति कें, करयो जगत चर अचर तम ॥

मुद्गल उपनिषद् ऋग्वेदीय है, भगवान् वेदव्यासजी ने जब एक वृहद् वेद को संक्षिप्त करके उसे ऋक्, यजु, साम और

* वे देव एक ही हैं, बहुत भाँति से निविष्ट होकर स्वयं अजन्मा होने पर भी अनेक रूपों से उत्पन्न होते हैं । याजक अध्वर्यु गण उसी की अग्नि रूप से उपासना करते हैं । यजुर्वेदीय यह यजुः है ऐसा मानकर समस्त यज्ञीय कर्मों में योजित करते हैं ।

८

अथर्व इन नामों से चार भागों में बाँट दिया। भगवान् व्यास जानते थे, कलियुगी लोग अल्पायु, क्षीण बल तथा अल्प बुद्धि वाले मन्दमति होंगे। वे चारों वेदों की संहिताओं को कंठस्थ धारण करने में समर्थ न होंगे। अतः उन्होंने चार संहिताओं के लिये अपने चार शिष्यों को बुलाया। उनमें से ऋक् संहिता पैल मुनि को, यजुः संहिता वैशम्पायन महर्षि को, साम संहिता महामुनि जैमिनी को और अथर्व संहिता सुमंतु महामुनि को दी। इन सब महर्षियों ने अपने पुत्रों तथा शिष्यों को उन संहिताओं की शाखायें पृथक्-पृथक् करके उनको पढ़ाया। क्योंकि वे जानते थे, आगे कलियुग में लोग एक वेद को भी धारण न कर सकेंगे। कम से कम अपनी-अपनी शाखाओं को तो याद कर ही लिया करेंगे। इस प्रकार चारों वेदों की बहुत-सी शाखायें हो गयीं। इनमें से ऋग्वेद को 'वह्वच' भी कहते हैं, क्यों कि उसकी ऋचायें बहुत हैं। ऋग्वेदीय महामुनि पैल ने अपनी ऋग्वेद संहिता के दो विभाग किये। पहिले विभाग को तो इन्द्र प्रमिति को पढ़ाया और दूसरे विभाग को वाष्कल महामुनि को।

इन्द्र प्रमिति महामुनि ने अपनी संहिता मांडूकेय ऋषि को पढ़ायी। माण्डूकेय महामुनि ने अपने शिष्य देव मित्र को और अपने पुत्र शाकल्य को अपनी संहिता को दो भागों में करके पढ़ाया। देवमित्र ने तो अपनी शाखा को अपने शिष्य सौभरि आदि ऋषियों को पढ़ाया। अब जो माण्डूकेय के पुत्र शाकल्य महामुनि थे उन्होंने अपनी संहिता के पाँच विभाग किये। उन्हें क्रमशः अपने वात्स्य, मुद्गल, शालीय, गोखल्य और शिशिर इन पाँचों शिष्यों को पढ़ाया।

इस प्रकार ये मुद्गल महामुनि शाकल्य मुनि के शिष्य तथा माण्डूकेय महामुनि के प्रशिष्य हैं। ये गोत्र कारक महामुनि हैं।

इनकी पत्नी का नाम इन्द्रसेना पुराणों में आता है। मौद्गल्य गोत्रीय ब्राह्मण इस देश में तो बहुत कम मिलते हैं। दक्षिण में अधिक मिलते हैं। किसी यज्ञ में वाद विवाद होने से मौद्गल्य गोत्रीय ब्राह्मण शिखा नहीं रखते। उन्हीं ऋग्वेदीय महर्षि मुद्गल द्वारा कही हुई यह मुद्गल उपनिषद् है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ऋग्वेदीय मुद्गल उपनिषद् छोटी सी ही उपनिषद् है। 'वाङ् मे मनसि' आदि इसका शान्ति पाठ है। यह चार भागों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में सुप्रसिद्ध पुरुषसूक्त का विषय निरूपण करते हुए पहिले बताया है इसे भगवान् वासुदेव ने सर्वप्रथम इन्द्र से कहा था। इन्द्र ने जब पुरुष सूक्त के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तब भगवान् ने कहा—"अच्छा तुम सुनो तो सही। मैं पुरुषसूक्त की व्याख्या करता हूँ।"

पुरुष सूक्त का संक्षेप में अर्थ बताया जाता है। पुरुष सूक्त का प्रथम मन्त्र है 'सहस्रशीर्षा' इत्यादि। इसमें सहस्र शब्द अनन्त का वाचक है। इस मन्त्र के अन्त में 'तिष्ठत् दशांगुलम्' पद आता है, इस दश पद का भी अर्थ अनन्त योजन है। अर्थात् वे अनन्तस्वरूप भगवान् कहाँ बैठे हैं अनन्त योजनों में। इस पहिले मन्त्र का भाव यह है कि भगवान् सर्वत्र सभी देशों में व्याप्त हैं।

अब दूसरा जो 'पुरुष एवेदं' इत्यादि मन्त्र है, उसमें भगवान विष्णु सर्वकाल व्यापी हैं, और वे मोक्ष देने वाले हैं। इस प्रकार पहिले मन्त्र में भगवान् की देश व्याप्ति और दूसरे में काल व्याप्ति बताई।

अब तीसरा जो 'एतावान्' आदि मन्त्र है, उसमें भगवान् मोक्ष देने वाले हैं, इसका वर्णन किया है। इस मन्त्र से हरि भगवान् के वैभव का वर्णन किया गया है।

इन तीनों मन्त्रों द्वारा चतुर्व्यूह के संकर्षण, वासुदेव और प्रद्युम्न इन तीनों स्वरूप के वैभव का वर्णन किया गया है, अब जो चौथा 'त्रिपादूर्ध मन्त्र है इसमें अनिरुद्ध के वैभव का वर्णन है।

अब पाँचवाँ जो 'तस्मात् विराड्' जो मन्त्रहै इसके द्वारा पाद विभूति रूप जो हरि नारायण हैं उनकी स्वरूप भूता जो प्रकृति पुरुष हैं, उनकी समुत्पत्ति दिखायी गई है।

छटा जो 'यत् पुरुषेण' इत्यादि मन्त्र है इस मन्त्र में सृष्टि के स्वरूप का तथा यज्ञ का वर्णन किया गया है।

सातवाँ जो 'तं यज्ञं' मन्त्र है इसमें सृष्टि यज्ञ का वर्णन है जिस यज्ञ को समिधा का वर्णन पन्द्रहवें 'सप्तास्यासन्' मन्त्र में किया गया है। इसी सातवें 'तं यज्ञम्' मन्त्र द्वारा मोक्ष का भी वर्णन किया है।

अब 'तस्मात् यज्ञात्' यह आठवाँ तस्मात् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः' यह नवाँ, यत् पुपम्, यह दशवाँ, तस्मादश्वा यह दशवाँ, 'यत् पुरुपं' यह ग्यारहवाँ 'ब्राह्मणोऽस्य' यह बारहवाँ, 'चन्द्रमा मनसो' यह तेरहवाँ, नाभ्या आसीद्' यह चौदहवाँ इन सात मन्त्रों द्वारा जगत् को सृष्टि का वर्णन किया गया है। 'सप्ता स्यासन' इस पन्द्रहवें मन्त्र में सृष्टि यज्ञ के लिये जो समिधा होती हैं इसका वर्णन किया गया है। इस प्रकार पन्द्रह मन्त्रों का अर्थ कहा। अब सोलहवाँ जो 'वेदाहमेतम्' मन्त्र है और सत्रहवाँ जो धाता पुरस्ताद् ये दो मंत्र हैं इनमें श्रीहरि के वैभव का वर्णन किया गया है।

अब जो अंतिम अठारहवाँ 'यज्ञेनयज्ञमय' मन्त्र है। इसके द्वारा मोक्ष के वर्णन का उपसंहार किया गया है। जो इसे

यथार्थ रूप से जान लेता है, वह मुक्त हो जाता है, यहाँ आकर मुद्गल उपनिषद् का प्रथम खण्ड पूर्ण होता है।

प्रथम खण्ड में पुरुष सूक्त का वैभव विस्तार के साथ प्रतिपादन किया, अब द्वितीय खण्ड मे भगवान वासुदेव ने इन्द्र के लिये ज्ञान का उपदेश करके फिर भी सूक्ष्म श्रवण के लिये प्रणत हुए इन्द्र के लिये परम रहस्य भूत पुरुष सूक्त के जो दो खण्ड हैं, उनका उपदेश दिया। अब उन दो खण्डों को कहते हैं। जो यह कहा कि वे पुरुष नाम, रूप और ज्ञान से अगोचर हैं, संसारी लोगों के लिये अति दुर्ज्ञेय हैं। इसीलिये उन्होंने अपने इस दुर्ज्ञेय रूप को छोड़कर क्लेशादि से युक्त देव आदि के उद्धार की इच्छा से सहस्र कला अवयव युक्त कल्याणकारी रूप को धारण किया जो दृष्टमात्र से ही मोक्ष देने वाला है। उस वेष से पृथ्वी आदि लोकों में व्याप्त होकर अनन्त योजनों में स्थित हैं। ये नारायण पुरुष ही भूत, भविष्य तथा वर्तमान रूप में स्थित हैं। वे ही सबको मोक्ष देने वाले हैं। वे समस्त महिमा वालों से श्रेष्ठ हैं। उनसे अधिक कोई ज्यायान-श्रेष्ठ-नहीं है। वे महापुरुष अपनी आत्मा को चार विभागों में करके तीन पाद से तो परम व्योम में रहते हैं। शेष जो चतुर्थ पाद अनिरुद्ध नारायण नाम का पाद बचा उसके द्वारा समस्त विश्व ब्रह्माण्ड की रचना करते भये। उस त्रिपाद विभूति (वासुदेव, संकर्षण और प्रद्युम्न) से भिन्न जो एक पाद अनिरुद्ध रूप चतुर्थ पादात्मक नारायण हैं, उन्होंने जगत की सृष्टि के लिये प्रकृति को बनाया। वे प्रकृति स्वरूपा ब्रह्माजी समृद्धकाय होने पर भी सृष्टि काम को जानने में सामर्थ्यवान् नहीं हो सके। तब उन अनिरुद्ध नारायण ने उन्हें सृष्टि कर्म का उपदेश दिया। उन्होंने कहा—"ब्रह्मन्! तुम अपनी इन्द्रियों को याजक

रूप में ध्यान करके, कमल कोशाभूत जो आपका दृढ़ ग्रन्थि कलेवर-शरीर है उसे यज्ञ की हवि ध्यान करके, और मुझे हवि को खाने वाला ध्यान करके, वसन्त काल को यज्ञ का घृत ध्यान करके, ग्रीष्म ऋतु को समिधा का ध्यान करके, शरद ऋतु को रस रूप मानकर यज्ञ कर्म करो। इस भाँति अग्नि में हवन करने से तुम्हारे शरीर से यदि वज्र का भी स्पर्श हो जाय, तो वह वज्र भी कुण्ठित हो जायगा। अर्थात् उस यज्ञ से तुम्हारा शरीर इतना सुदृढ़ हो जायगा कि वज्र भी उस पर प्रहार करने में समर्थ न हो सकेगा। तदनन्तर तुम अपने कार्य से समस्त प्राणधारी जीवों की सृष्टि करके, उस सृष्टि से जो उत्पन्न होगा, वही स्थावर जंगमात्मक जगत् होगा। इस प्रकार जीव और आत्मा के योग से मोक्ष का प्रकार भी कहा यह मानना चाहिये। जो इस सृष्टि यज्ञ को जानता है, वह मोक्ष प्रकार को जानता है। तथा वह अपनी पूर्ण आयु को प्राप्त होता है। यहाँ आकर द्वितीय खण्ड समाप्त हुआ।

अब तृतीय खण्ड में कहा है, वह देव एक ही है, वह अनेक रूप से इस जगत में उत्पन्न हो रहा है। यज्ञ कर्ता अध्वर्युगण उसी की अग्नि रूप से उपासना करते हैं, यजुर्वेदीय 'यह यजु है' इसी भाव से उसकी सर्वयज्ञीय कर्मों में योजना करते हैं। सामवेदीय उसी को 'साम' कहते हैं। क्योंकि उसी में यह सब प्रतिष्ठित है। सर्प उसी को विष, सर्पविद्-सर्प-प्राण-रूप, देवगण, अमृत रूप, मनुष्य धन, असुर माया, पितर स्वधा, देवजन वेत्ता-देवोपासक-देव, गन्धर्व गण इसे रूप तथा अप्सरायें इसे गन्धर्व मानती हैं। कहने का अभिप्राय यह है, कि जो इसको जिस भावना से उपासना करता है, उसके लिये यह वैसा ही हो जाता है। इसलिये ब्राह्मण-ब्रह्मवेत्ता को चाहिये, कि वह

यही भावना करे कि परब्रह्म मैं ही हूँ। इस प्रकार की भावना करने से वह उसी स्वरूप वाला हो जाता है। तद्रूप वाला बन जाता है। जो इसे जानता है वही यथार्थ वस्तु को जानता है। यहाँ आकर तीसरा खण्ड समाप्त होता है।

अब चौथे खण्ड में ब्रह्म का स्वरूप बताते हुए कहते हैं—"वह ब्रह्म तापत्रय से अतीत है, छैओं कोशों से विनिर्मुक्त है। छै ऊर्मियों से रहित है, पंचकोशों से अतीत है। षडभाव विकारों से शून्य है इस प्रकार वह सबसे विलक्षण है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक ये त्रिताप हैं। जो कर्ता-कर्म-कार्य,ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय तथा भोक्ता–भोग और भोग्य इस प्रकार एक-एक के तीन-तीन भेद हैं। कोश क्या? चर्म, मांस, रक्त, अस्थि, नसें तथा मज्जा ये छैः कोश–धातुयें–हैं। छै शत्रु वर्ग हैं, वे काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मात्सर्य ये हैं। पाँच कोश हैं— वे अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश तथा आनन्दमय कोश ये हैं। छैः जीवों के भाव हैं, कौन-कौन? प्रियत्व–प्रिय होना,–आत्मजनन–उत्पन्न होना,–वर्धन–बढ़ना, परिणाम–परिवर्तित होना-, क्षय–घटना–, नाश–नष्ट हो जाना। छैः ऊर्मियाँ हैं। कौन-कौन? भूख प्यास, शोक- मोह, जरा और मरण छैः भ्रम हैं। कौन-कौन? कुल, गोत्र, जाति, वर्ण, आश्रम और रूप। इस प्रकार त्रिताप, कोश, विकार, ऊर्मि और भ्रम इनके योग होने से उस परम पुरुष की ही जीव संज्ञा हो जाती है। जीव कोई दूसरा नहीं है।

अब इस उपनिषद् के अध्ययन का फल बताते हैं— जो इस उपनिषद् का नित्य अध्ययन करता है, वह अग्निपूत तथा आदित्य द्वारा पवित्र हो जाता है। वह अरोगी, पुत्र पौत्रादि समृद्धि से युक्त तथा विद्वान् होता है।

पवित्र हो जाता है, सुरापान से, अगम्यागमन से, मातृ, दुहितृ तथा स्नुषागमन से पवित्र हो जाता है। स्वर्ण की चोरी जैसे महापातक से छूट जाता है। गुरु सुश्रूषा न करने से, अयाजक को यज्ञ कराने से, अभक्ष्य के भक्षण करने से, तथा परदारागमन जैसे घोर पापों से छूट जाता है।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्यादि दुर्गुणों से वह बाधित नहीं होता। सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है। इसी जन्म में वह परम पुरुष हो जाता है।

अब पात्रता का वर्णन करते हुए कहते हैं इसे अपात्र को न देना चाहिये। इसके अपात्र कौन-कौन हैं? इसे बताते हैं इस पुरुष सूक्त के अर्थ वाली अति रहस्यमय राजगुह्य, देवगुह्य, गुह्यतर उपनिषद् को अदीक्षित, अनूचान न हो–जिज्ञासु न हो–यज्ञ न करने वाले, विष्णु भक्ति विहीन, अवैष्णव–अयोगी, बहुभाषी, अप्रियभाषी, जो वर्ष में एक बार भी वेदाध्ययन न करता हो, असंतोषी, तथा जो वेदाध्ययनशील न हो ऐसे लोगों को इसका उपदेश कभी न करे।

आचार्य उपदेशक गुरु को चाहिये पवित्र देश में, पुण्य नक्षत्र में प्राणायाम करके, परम पुरुष परमात्मा का ध्यान करते हुए, जो अपनी शरण में आया हो, उस शरणापन्न शिष्य के दक्षिण कर्ण में इस पुरुष सूक्तार्थ उपनिषद् का उपदेश करे। बहुत बोले नहीं, बहुत बोलने से यातयाम बासी बन जाता है। बारम्बार कर्ण में उपदेश करे। इस प्रकार पवित्रता पूर्वक सुनने वाला शिष्य, उपदेश देने वाला अध्यापक दोनों ही इसी जन्म में परम पुरुष स्वरूप–ब्रह्म रूप हो जाते हैं। यही मुद्गलोपनिषद् है, यहाँ आकर यह उपनिषद् समाप्त होती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार यह मुद्गलोपनिषद्

सार मैंने आपके सम्मुख कहा। अब आप कृपा करके शांडिल्य-उपनिषद्-सार को और श्रवण करें।"

छप्पय

पुरुष प्रतिष्ठित जगत जाइ जे जैसे ध्यावैं।
परम पुरुष तिहि भाव रूप तैसे ह्वै जावैं॥
तातैं ज्ञानी ब्रह्मभाव अपने में लावै।
ब्रह्म भाव करि सतत ब्रह्म निश्चय ह्वै जावै॥
ब्रह्म जीव ही बनि गयो, ताप, कोश, भ्रमभाव नहिं।
कबहुँ अपात्रहिं देहि नहिं, देहि पात्रकूँ हरष लहि॥

इति मुद्गल-उपनिषद्-सार समाप्त

(६१) शाण्डिल्य-उपनिषद्-सार (१)

[३२५]

कनीयसि भवेत्स्वेदः कम्पो भवति मध्यमे।
उत्तिष्ठत्युत्तमे प्राणरोधे पद्मासनं महत् ॥*
(शा० उ० १ अ० २० मं०)

छप्पय

शाण्डिल्य हु उपनिषद् योग अष्टाङ्ग बतावे।
दश दश यम अरु नियम आठ आसन समुझावे॥
पूरक रेचक कुंभ प्राण आयाम तीनि हैं।
प्रत्याहार हु पाँच ध्यान द्वै कहे मुनिनि हैं॥
एक धारणा समाधिहु, अष्ट अङ्ग सब मिलि भये।
मुनि अथर्व शांडिल्य तैं, योग अङ्ग विधिवत कहे॥

महामुनि शाण्डिल्य गोत्र प्रवर्तक हैं। शाण्डिल्य गोत्रीय ब्राह्मण इस देश में बहुत हैं। ये महामुनि भक्ति मार्ग के आचार्य हैं। शाण्डिल्य का भक्ति-शत-सूत्र प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जिसका भाष्य स्वप्नेश्वर सूरि ने किया है। जैसे ये महर्षि भक्ति-मार्ग के आचार्य हैं, वैसे ही ये योगमार्ग के भी आचार्य हैं।

---

* प्रथम प्राणायाम मे प्रथम स्वेद होता है, मध्यम में कम्प और उत्तम प्राणायाम में पद्मासन के सहित योगी आकाश में अधर-निरालम्ब-उठ जाता है।

यह जो शांडिल्य-उपनिषद् है, यह योग सम्बन्धी ही उपनिषद् है। इस उपनिषद् का 'भद्रं कर्णेभिः' इत्यादि शांति पाठ है। यह तीन अध्यायों में विभक्त है।

प्रथम अध्याय में महामुनि शांडिल्य ने अथर्वा मुनि से पूछा—"भगवन्! यह जो अष्टाङ्ग योग है, वह, आत्मलाभ का उपाय है, अर्थात् अष्टाङ्ग योग द्वारा ही आत्म साक्षात्कार हो सकता है। उस अष्टाङ्ग योग को मुझसे कहिये।"

यह सुनकर अथर्वा मुनि ने कहा—"देखो, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान और समाधि ये ही योग के आठ अंग हैं। इनमें यम और नियम दश दश हैं, आसन मुख्य आठ हैं, प्राणायाम तीन हैं, प्रत्याहार पाँच प्रकार के हैं। धारणा एक ही है। ध्यान दो प्रकार का है समाधि तो एक ही है। अब इनकी व्याख्या सुनो।

यम—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) ब्रह्मचर्य, (५) दया, (६) आर्जव, (७) क्षमा, (८) धृति, (९) मिताहार और (१०) शौच ये ही दश यम कहे जाते हैं।

१–अहिंसा किसे कहते हैं? हिंसा न करने को। हिंसा क्या? मनसा वाचा कर्मणा सभी प्राणियों को सर्वदा क्लेश पहुँचाना हिंसा है। ऐसा न करना ही अहिंसा है।

२–सत्य किसे कहते हैं? मनसा वाचा कर्मणा सभी प्राणियों के हित में रहना तथा यथार्थ बात को ही वाणी से बोलना। असत्य बात का अभिभाषण न करना।

३–अस्तेय क्या? मन से वचन से तथा कर्म से दूसरों के द्रव्यों में निःस्पृह रहना। अर्थात् यह न चाहे, कि इसकी भी वस्तु हमें मिलजाय, यह भी हमारे अधिकार में आजाय, न्याय से जो भी प्राप्त हो उसी में सन्तुष्ट रहना।

४–ब्रह्मचर्य क्या ? सभी अवस्थाओं में मन से, वचन से तथा कर्म से सभी प्रकार के मैथुनों का परित्याग करना।

५–दया किसे कहते हैं ? संसार के समस्त प्राणियों में-सभी स्थानों में, सभी पर अनुग्रह करते रहना। सर्वभूतों के हित में निरत रहना।

६–आर्जव क्या ? मन से, वचन से तथा कर्म से चाहें विहित-जन हों अथवा अविहित जन हों, इन सब जनों में तथा प्रवृत्ति निवृत्ति इन दोनों में एक रूपता से रहना अर्थात् जो भी कुछ हो रहा है सब भगवत् प्रेरणा से ही हो रहा है, यह समझकर सबमें सरलता के साथ वर्तते रहना।

७–क्षमा किसे कहते हैं ? कोई अपने अनुकूल प्रिय कार्य हो अथवा अपने प्रतिकूल अप्रिय कार्य हो उन दोनों को तथा कोई मारता हो अथवा कोई पूजन करता हो उन दोनों कार्यों को समान रूप से सहन करना। अर्थात् दुःख देने वाले और सुख पहुँचाने वाले दोनों पर दया भाव रखना यही क्षमा है।

८–धृति क्या ? अर्थ की हानि होने पर, अपने इष्ट मित्र बन्धु बान्धवों के वियोग होने पर भी सर्वत्र चित्त को स्थिर रखना, उसमें अधीरता न दिखाना धैर्य स्थापन करना यही धृति है।

९–मिताहार किसे कहते हैं ? देखो, जैसे हमें एक सेर की भूख है, तो तीन पाव ही खाय। सुस्निग्ध-चिकनी वस्तु खाय, मीठी वस्तु खाय, मधुर आहार परिमित करे, यही मिताहार है।

१०–शौच किसे कहते हैं ? देखो, शौच दो प्रकार का होता है, बाहरी शौच, भीतरी शौच। इसमें मिट्टी से जल से तो बाहरी शौच होता है। लघुशंका दीर्घ शंका के अनन्तर मिट्टी जल से अंगों का प्रक्षालन करना, मिट्टी लगाकर त्रिकाल

स्नान करना यह तो बाहर की पवित्रता है, मन को शुद्ध रखना यह भीतरी पवित्रता है मन की पवित्रता तो अध्यात्म विद्या द्वारा ही प्राप्त हो सकती है।

इस प्रकार ये दश तो यम हो गये अब दश ही नियम हैं। उनके नाम ये हैं। (१) तप, (२) संतोष, (३) आस्तिक्य भाव, (४) दान, (५) ईश्वर पूजन, (६) सिद्धान्त श्रवण, (७) ह्री (८) मति, (९) जप और (१०) व्रत। अब इनकी व्याख्या सुनिये।

१–तप किसे कहते हैं ? शास्त्रीय विधि से-मन माने ढँग से नहीं-कृच्छ्र चान्द्रायणादि विधिविहित उपवासों द्वारा शरीर को सुखा देने का ही नाम तप है।

२–सन्तोष किसे कहते हैं। स्वाभाविक रूप से प्रभु इच्छा से जो भी कुछ प्राप्त हो जाय, उसी में सन्तुष्ट रहना, बहुत हाय-हाय न करना, इसी का नाम संतोष है।

३–आस्तिक्य किसे कहते हैं ? वेद में बताये हुए धर्म और अधर्मो के प्रति विश्वास रखना इसी का नाम आस्तिकता है। वेदों पर श्रद्धा रखना आस्तिकता और वेदों की निन्दा करना नास्तिकता है।

४–दान किसे कहते हैं ? अन्न तथा दूसरा धन जो न्याय द्वारा उपार्जित किया गया हो, उसे श्रद्धा सहित उसके चाहने वाले अतिथि अभ्यागतों को देना यही दान कहलाता है।

५–ईश्वर पूजन क्या ? प्रसन्न स्वभाव से अपनी शक्ति के अनुसार भगवान् विष्णु का, भगवान् भोलेनाथ शंकरजी आदि देवों का षोडशोपचार तथा पंचोपचार आदि विधि से पूजन करना ही ईश्वर पूजन है।

६–सिद्धान्त श्रवण किसे कहते हैं ? वेदान्त के जो गीता

उपनिषद् आदि सिद्धान्त ग्रन्थ हैं, उनके अर्थों का परस्पर में मिलकर विचार विमर्श करना ही सिद्धान्त श्रवण है।

७–ह्री किसे कहते हैं ? वैदिक मार्ग तथा लोक में जो कार्य कुत्सित-बुरे-माने जाते हों, उन कर्मों के करने में लजाना ! लज्जा का अनुभव करना इसी को ह्री कहते हैं।

८–मति क्या ? वेद विहित जो कर्म हैं, उन कर्मों में श्रद्धा रखकर उन कर्मों में आस्था रखना यही मति है।

९–जप किसे कहते हैं ? शास्त्रीय विधि से शास्त्रीय मन्त्रों को गुरु द्वारा दीक्षा लेकर उनका पुनः-पुनः अभ्यास करने को जप कहते हैं। वह जप दो प्रकार का होता है, वाचिक और मानसिक। मानसिक जप वह कहलाता है, जिसमें मन्त्रका मन ही मन ध्यान किया जाता है। वाचिक जप भी दो प्रकार का होता है, एक तो उच्च स्वर से जप दूसरा उपांशु जप। उच्च स्वर से जप तो वह जो कानों से सुनायी दे, उपांशु जप वह जो सुनाई न दे, केवल ओष्ठ और जिह्वा मन्त्रोच्चारण के समय हिलती हुई दिखायी दें। उच्च स्वर जप की अपेक्षा उपांशु जप सहस्र गुणा और उपांशु जप से मानसिक जप कोटि गुणा फल दायक बताया है।

१०–व्रत किसे कहते हैं ? वेदोक्त विधि से यह निश्चय करके कि यह तो कर्तव्य है यह अकर्तव्य है, यह विधि है, यह निषेध है। तदनन्तर इसे हम करेंगे, इसे नहीं करेंगे ऐसा निश्चय करके जो नियम साधा जाता है अनुष्ठान किया जाता है। उसी का नाम व्रत है। ये दश तो नियम हो गये। अब यम नियम के पश्चात् आसन अष्टाङ्ग योग का तीसरा अङ्ग है। वैसे तो चौरासी लाख योनियाँ हैं तो उतने ही आसन हैं, इनमें चौरासी मुख्य आसन हैं। उनमें भी (१) स्वस्तिक, (२) गोमुख,

(३) पद्म, (४) वीर, (५) सिंह, (६) भद्र, (७) मुक्त तथा (८) मयूर ये आठ आसन मुख्य हैं।

१-स्वस्तिक आसन किसे कहते हैं ? जानु और ऊरु के मध्य में दोनों पाद तलों को भली भाँति करके, सीधे शरीर से समभाव से अवस्थित होने को स्वस्तिकासन कहते हैं।

२-गोमुख आसन किसे कहते हैं ? बायें घुटने पर दक्षिण घुटने को पृष्ट पार्श्व में रखना और इसी दक्षिण को सव्य में रखने से जो गौ के मुख के सदृश आकार बन जाता है, वही गोमुख आसन है।

३-पद्मासन किसे कहते हैं ? पद्मासन के दो भेद हैं बद्ध-पद्मासन और पद्मासन। दोनों ऊरुओं के ऊपर दायें बायें के क्रम से दोनों पाद तलों को रखे। यह तो पद्मासन हुआ, फिर दायें हाथ को पाठ की ओर ले जाकर दायें पैर का अँगूठा और बायें हाथ को पाठ की ओर से ले जाकर बायें पैर का अँगूठा पकड़े यही सभी द्वारा पूजित बद्ध पद्मासन है।

४-वीरासन किसे कहते हैं ? एक पैर को ऊरु पर खड़ा करके दूसरे को दूसरे ऊरु पर भूमि में लिटाकर जो वीर पुरुषों की भाँति कड़क कर दृढ़ता के साथ बैठना है, उसे वीरासन कहते हैं।

५-सिंहासन किसे कहते हैं ? दक्षिण पैर को सव्य गुल्फ के द्वारा तथा वाम पैर को दक्षिण गुल्फ के द्वारा स्थापित करके दोनों हाथों को दोनों जानुओं पर रखे, और अपने दोनों हाथों की दशों उँगलियों को खूब चौड़ा ले। मुँह को जितना फाड़ सके फाड़ ले, फिर नासिका के अग्रभाग को सुसमाहित होकर देखता रहे यही सिंहासन है।

६-सिद्धासन किसे कहते हैं ? बायें पैर की एड़ी से लिंग

और गुदा के मध्य जो योनिस्थान है, उसे पीड़न करके और दक्षिण पैर की ऐड़ी को लिङ्ग के ऊपर रखे और अपनी दृष्टि को दोनों भौंहों के बीच में जमा कर मन का उसी स्थान में लक्ष्य बनाले। इसी का नाम सिद्धासन है।

७–भद्रासन किसे कहते हैं ? दोनों एड़ियों को वृषणों के नीचे जो सीमन है उसके पार्श्व भाग में जमावे। पाद के पार्श्व में दोनों हाथों को सुनिश्चल करके दृढ़ता के साथ बाँधे इसी का नाम भद्रासन है, इससे सम्पूर्ण व्याधियों का तथा विषों का नाश हो जाता है।

८–मुक्तासन किसे कहते हैं ? सूक्ष्मा सीविनी को सव्य गुल्फ के द्वारा संपीडन करके तथा दक्षिण गुल्फ के द्वारा सव्य को संपीडन करके जो आसन होता है उसे मुक्तासन कहते हैं।

९–मयूरासन किसे कहते हैं ? पृथ्वी पर कलाई के बल रह कर दोनों हाथ जमावे, पैरों को और शिर का समुन्नत करके जैसे लोग भूमि में लोटकर दंडवत् करते हैं, उस मुद्रा में संस्थित हो। दंडवत् में तो शिर और पैर भूमि में सटे रहते हैं। इसमें पैर और शिर आकाश में टँगे रहते हैं, जैसे मोर होता है वैसी आकृति बना लेने पर जो आसन होता है, वह मयूरासन कहलाता है, यह आसन समस्त पापों का नाश करने वाला है। शरीर के समस्त रोगों का नाश करता है इस प्रकार आठ आसन तो ये और एक सिद्धासन ये मुख्य आसन हुए। इनमें से किसी भी एक आसन से स्थित हो जाय। सुखपूर्वक जिससे बैठ सके ऐसे आसन से भी अशक्त पुरुष बैठ सकता है। जिस पुरुष ने आसन को जय कर लिया उसने मानों तीनों लोकों को जीत लिया।

यम, नियम और आसन योग के इन तीनों अङ्गों को बताने

के अनन्तर अब प्राणायाम जो योग का चौथा अङ्ग है, उसके सम्बन्ध में बताते हैं। यम नियम से संयुक्त साधक सुदृढ़ आसन मार कर प्राणायाम करे। अब प्रश्न उठता है, प्राणायाम से क्या लाभ होता है? तो इसका उत्तर देते हुए कहते हैं, प्राणायाम से नाड़ियों की शुद्धि होती है।"

इस पर शांडिल्यजी ने महामुनि अथर्वा से पूछा—"नाड़ियों की शुद्धि किस उपाय से होती है? शरीर में सम्पूर्ण नाड़ियाँ कितनी हैं? इनकी उत्पत्ति कैसे होती है? उन नाड़ियों में कितनी वायु रहती हैं? उन वायुओं के स्थान कौन-कौन-से हैं? उन वायुओं के कर्म क्या हैं? इस शरीर में जो-जो भी जानने योग्य बात हो उस सबको बताइये।"

शांडिल्य मुनि के एक साथ इतने प्रश्न सुनकर महर्षि अथर्वा कहने लगे—"देखो, भाई! यह जो मानव शरीर है, वह प्रत्येक मनुष्य अपनी उँगलियों से ९६ अंगुल का होता है। शरीर से प्राण बारह अंगुल अधिक होते हैं। अर्थात् नासिका से वायु निकलती रहती है, वह शरीर से बारह अंगुल आगे तक जाती है। शरीर में रहने वाली प्राण वायु को जो जठराग्नि के साथ योगाभ्यास से सम या न्यून कर लेता है, वही योगिराज कहलाता है। मनुष्यों की देह के मध्य में एक शिखि स्थान है। वह त्रिकोण है। तपाये हुए सुवर्ण की प्रभा के सदृश प्रभा वाला है। मनुष्य शरीर में त्रिकोण, चौपायों के शरीर में चतुष्कोण तथा पक्षियों के शरीर में वृत्ताकार (गोल) होता है। वह शिखि स्थान शरीर के किस स्थान में होता है? इसे बताते हुए कहते हैं—"मनुष्यों के गुदा से दो अंगुल ऊपर लिङ्ग से दो अंगुल नीचे अर्थात् गुदा और लिङ्ग के बीच में होता है, चौपायों के हृदय में और पक्षियों की तोंद (पेट) में होता है। उस शिखि स्थान के मध्य में शुभ्र

तन्वी पाव की शिखा रहती है। देह के मध्य भाग में नौ अंगुल का चार अंगुल चौड़ा अंडे की आकृति का गोल स्थान है, उसी स्थान के बीच में नाभि है। उस नाभि में बारह आरों वाला एक चक्र है। अर्थात् द्वादश दल कमल है। उस चक्र के बीच में पुण्य पाप से बँधा हुआ जीव भ्रमण करता है। जैसे तन्तु के पींजड़े में बँधा बन्दर इधर-से-उधर घूमता रहता है, उसी प्रकार इस अस्थिपञ्जर शरीर के मध्य में प्राण भी घूमता रहता है। इस देह में जीव जो है वह प्राणों के ऊपर सवार रहता है। नाभि से इरछे तिरछे ऊपर नीचे कुण्डलिनी का स्थान है। जैसे आठ (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, महत्तत्त्व, अहंतत्त्व, और मूल प्रकृति) प्रकृति हैं उसी के अनुरूप आठ कुंडली=गुड मुड़ी-मारे कुंडलिनी शक्ति होती है। यथावत् वायु संचार होने से जल अन्नादि जो हैं उन्हें चारों ओर से स्कन्ध तथा पास में निरोध करके, अपने मुख द्वारा ब्रह्म रन्ध्र को रोक कर यह प्रसुप्त पड़ी है। जब अपान वायु द्वारा अग्नि का ताप लगता है तब यह प्रस्फुरित होती है। प्रस्फुरित होकर हृदयाकाश में महान् उज्वल होकर ज्ञान रूपा हो जाती है। अर्थात् कुंडलिनी के जाग्रत होने पर साधक को पूर्ण ज्ञान की उपलब्धि हो जाती है।

मध्यस्थ जो कुंडलिनी शक्ति है उसका आश्रय लेकर मुख्य चौदह नाड़ियाँ हैं उनके नाम ये हैं। (१) इडा, (२) पिङ्गला, (३) सुषुम्ना, (४) सरस्वती, (५) वारुणी, (६) पूषा, (७) हस्ति-जिह्वा, (८) यशस्विनी, (९) विश्वोदरी, (१०) कुहू, (११) शङ्खिनी (१२) पयस्विनी, (१३) अलम्बुसा और (१४) गान्धारी।

इन सबमें सुषुम्ना विश्वधारिणी है, वही मोक्षमार्ग प्रवर्तिका है। गुदा के पृष्ट भाग में–अर्थात् पीठ में जैसे वीणा का दण्ड होता है, वैसे ही रीढ़ की हड्डियों का एक दण्ड है वह शिर पर्यन्त चला

गया है। उसी मूर्धा में जो सबसे ऊपर ब्रह्मरन्ध्र है उसी के साथ इस व्यक्त सूक्ष्मा, वैष्णवी सुषुम्ना नाड़ी का सम्बन्ध है। सुषुम्ना के सव्य बायीं ओर इडा नाड़ी है, दक्षिण-दायीं ओर पिंगला है, इडा नाड़ी में चन्द्रमा विचरण करता है और पिंगला में सूर्य। तमोगुण रूप तो चन्द्रमा है, रजो गुण रूप सूर्य है। विष भाग तो रवि है और अमृत भाग चन्द्रमा है। ये दोनों सभी कालों को धारण करते हैं। अर्थात् घड़ी, पल, प्रहर, दिन, रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु, अयन तथा सम्वत् सरादि सब काल सूर्य, चन्द्र, द्वारा ही जाने माने जाते हैं। काल का विभाग करने वाले ये सूर्य, चन्द्र, (इडा पिंगला) ही हैं। सुषुम्ना काल भोक्त्री है, अर्थात् यह काल को खा जाती है। सुषुम्ना के पृष्ठपार्श्व में सरस्वती और कुहू ये दो नाड़ियाँ रहती हैं। पयस्विनी और कुहू के बीच में वारुणी सुप्रतिष्ठित है। पूषा और सरस्वती के मध्य में पयस्विनी है। गान्धारी और सरस्वती के बीच में यशस्विनी नाड़ी है। बीच में जो कन्द स्थान है उसमें अलम्बुसा नाड़ी रहती है। सुषुम्ना के पूर्वभाग में मेढ्र के अन्त में कुहू रहती है। कुण्डलिनी के नीचे तथा ऊपर सर्वगामिनी वारुणी रहती है। यशस्विनी और सौम्या पैर के अँगूठा पर्यन्त रहती हैं। पिंगला ऊपर की ओर दक्षिण नासिका के अन्त भाग तक रहती है। पिंगला के पीछे दक्षिण नेत्र पर्यन्त पूषा रहती है। दक्षिण कान तक यशस्विनी रहती है। जिह्वा के ऊपर भाग पर्यन्त सरस्वती नाड़ी रहती है। सव्य-वाम-कर्ण पर्यन्त शङ्खिनी नाड़ी रहती है। इडा के पृष्ठ भाग से वाम नेत्र पर्यन्त जाने वाली गान्धारी होती है। गुदा के मूल भाग से नीचे ऊपर जाने वाली अलम्बुसा नाड़ी होती है। इस प्रकार इन चौदहों नाड़ियों से और भी बहुत -सी नाड़ियाँ निकली हैं। उन नाड़ियों से दूसरी

नाड़ियाँ और उन दूसरी नाड़ियों में से भी बहुत-सी नाड़ियाँ निकलती हैं। जैसे तुम एक पीपर का पत्ता उठाकर देखो, जिस प्रकार पीपर के पत्ते में की एक-एक शिरा से दूसरी शिरायें निकलती हैं और उन शिराओं में से भी बहुत-सी शिरायें निकलती रहती हैं, वैसे ही मनुष्य शरीर में नाड़ियों का जाल बिछा रहता है। यह तो संक्षेप में नाड़ियों के सम्बन्ध की बात हुई। अब प्राणों के सम्बन्ध की बात सुनिये।

प्राण दश प्रकार के हैं। उनके नाम ये हैं १-प्राण, २-अपान ३-समान, ४-उदान, ५-व्यान, ६-नाग, ७-कूर्म ८-कृकर, ९-देवदत्त और १० धनञ्जय। ये सभी प्राण समस्त नाड़ियों में विचरण करते रहते हैं। अब कौन-सी वायु किस-किस स्थान में विचरती है, इस बात को बताते हैं।

मुख, नासिका, कण्ठ, नाभि, पैरों के दोनों अंगूठों में कुण्डलिनी शक्ति के ऊपर और नीचे भाग में प्राण वायु संचार करती रही है। कान, आँख, कटि, गुल्फ, नाक, गला तथा स्फिग्, इन स्थानों में व्यान वायु संचरण करती है। गुदा, लिंग, ऊरु, जानु, उदर, वृषण, कटि, जङ्घा, नाभि और गुदा का अग्नि आगर है इन स्थानों मे अपान वायु संचार करती है। समस्त सन्धियों में उदान, पाद हस्त तथा समस्त गात्र में सर्वव्यापी समान वायु संचार करती है।

खाये हुए अन्न से जो रस रक्तादि बनते हैं उन्हें शरीर में अग्नि के सहित व्याप्त करके बहत्तर सहस्र नाड़ियों के मार्गों द्वारा विचरण करती हुई समान वायु अग्नि के साथ साङ्गोपाङ्ग शरीर में व्याप्त करती है।

यह तो प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान नामक पाँच प्राणों की बात हुई। अब नाग कूर्म देवदत्तादि जो पाँच और

प्राण हैं, वे पाँच जो त्वचा, अस्थि आदि धातुयें हैं उनके द्वारा सम्भव हैं। अर्थात् उन पाँच धातुओं में विचरते हैं। हम जो अन्न जलादि का भक्षण करते हैं, वह सब उदर में चला जाता है, उदरस्थ जो अन्न जल है उसे रस रक्त बनने के पूर्व वायु पृथक-पृथक कर देती है। जल भाग को पृथक और अन्न भाग को पृथक। फिर भीतर जो जठराग्नि है, उसके ऊपर जल को चढ़ाते हैं, जैसे चावल पकाने को बटलोई में जल चढ़ाते हैं। फिर उस जल के ऊपर अन्न को संस्थापित करके स्वयं अपान वायु द्वारा संप्राप्त होकर उस अग्नि के सहित ही वह अपान वायु उस अग्नि को प्रज्वलित करती है। वायु द्वारा परिपालित वह अग्नि अपान वायु द्वारा शनैः-शनैः देह के मध्य में जलती रहती है। जल कर ज्वालाओं के साथ तथा प्राण के साथ कोष्ठ में आया हुआ जो जल है, उसको अति उष्ण कर देता है। भाव यह है, कि अन्न और जल को वायु पृथक-पृथक करके जल को अग्नि पर चढ़ा देते हैं। उसके ऊपर अन्न को पकाने को रख देते हैं। वायु उस अग्नि को धौंकती है, उससे अग्नि में ज्वालायें उठती हैं, उन ज्वालाओं से जल गरम हो जाता है। उस उष्ण जल के ऊपर रखा हुआ उदरस्थ अनेक व्यंजन संयुक्त अन्न वन्हि संयुक्त जल के द्वारा पक जाता है। अन्न पकने के अनन्तर जो जल शेष रह जाता है, उससे स्वेद–पसीना–मूत्र, जल, रक्त तथा वीर्य रूप में परिणत हो जाता है। जो अन्न की किट्ट होती है वह पुरीष–मल हो जाता है। सार रसादि धातुयें होती हैं। प्राण उन सबको पृथक-पृथक कर देता है।

अब जो समान वायु है उसके साथ जो रस है उसे सम्पूर्ण नाड़ियों में व्याप्त करके श्वास प्रश्वास के रूप में वायु सम्पूर्ण देह में विचरण करती रहती है। अर्थात् श्वास द्वारा जिस

को हम भीतर ले जाते हैं, वह वायु सम्पूर्ण शरीर की नाड़ियों में घूमती है।

शरीर के जो सात ऊपर के दो नीचे के नौ छिद्र हैं उनसे शरीरस्थ वायु मल-मूत्र, खकार आदि विकारों को निकालती रहती है। निश्वास, उच्छ्वास तथा खाँसा ये प्राण के कर्म हैं। विष्ठा, मूत्र विसर्जन ये अपान वायु के कर्म हैं। हान-त्याग उपादानादि चेष्टायें व्यान के कर्म हैं। देह को उन्नयन-उठाना-आदि कर्म उदान के कर्म हैं। शरीर का परिपोषण करते रहना ये समान के कर्म हैं। डकार-उद्गारादि लाना ये नाग के कर्म हैं आखों को खोलना मीचना-पलक मारना आदि कूर्म के कर्म हैं। भूख लगाना यह कृकर का कर्म है। तन्द्रा लाना यह देवदत्त का कर्म है। खकार-श्लेष्मादि को निकालना यह धनञ्जय का कर्म है। इस प्रकार नाड़ियों के सभी स्थानों को जानकर, सभी वायुओं के स्थानों को जानकर, उन-उन वायुओं के कर्मों को भली-भाँति जानकर तब समस्त नाड़ियों का संशोधन करना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार मैंने योग के आठ अंगों में से यम, नियम, आसन और प्राणायाम के लिये प्राणों के स्थान और उनके कर्मों को कहा। अब नाड़ियों की शुद्धि कैसे करनी चाहिये इस विषय को आगे बतलाऊँगा।"

छप्पय

सत्य, अहिंसा, दया, क्षमा, धृति, शौच, आर्जवहु।
ब्रह्मचर्य, अस्तेय, कहे यम मितआहारहु॥
सुनो नियम—सन्तोष, दान, ईश्वर पूजन, जप।
ह्री, मति, व्रत, सिद्धान्त श्रवण मरु आस्तिकता, तप॥
पद्म आदि आसन कहे, प्रान कहे दश नाड़ि बहु।
प्रान, नाड़ि मल करम तिनि, जानि शोध नाड़ी सुनहु॥

शाण्डिल्य-उपनिषद्-सार (२)

[३२६]

प्राणं प्रागिडया पिबेन्नियमितम्
भूयोऽन्यया रेचयेत् ।
पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो-
बद्ध्वा त्यजेद्वामया ॥
सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिना-
भ्यासं सदा तन्वताम् ।
शुद्धानाडिगणा भवन्ति यमिनाम्
मासत्रयादूर्ध्वतः ॥*

(शा० उ० १ अ० १८ मं०)

छप्पय

नाड़ी शोधन हेतु नियम, यम, आसन साधे ।
गुरु शुश्रूषा करै इष्ट नित प्रति आराधे ॥
मुनि सेवित फल सुमन सलिल युत आश्रम आवे ।
गंगा तट गुरु निकट सुआसन शुभ लगावे ॥
पूरक रेचक कुम्भक हु, क्रम-क्रम तै पुनि-पुनि करै ।
रोग नसैं अनहद श्रवन, शोक मोह मन के हरै ॥

---

* पहिले वायु को नियमित रूप से इडा नाड़ी से पीना फिर पिंगला से प्राण को रेचन करना चाहिये । फिर पिं... इडा जो वाम नाड़ी है उनसे रेचन करना चाहिये । इस पर

योगमार्ग में सर्व प्रथम आवश्यकता होती है नाड़ी शुद्धि की। हमारे आश्रम में पीपल के बहुत से वृक्ष हैं। आश्रम गंगा जी के तट पर ही है। कभी-कभी जब गङ्गाजी बहुत बढ़ती हैं, तब आश्रम की कुटियों में भी घुस जाती हैं। एक बार गङ्गाजी बहुत बढ़ीं, तीन बार घटती बढ़ती रहीं। लगभग डेढ़ महीने तक पानी भरा रहा। जब पानी उतर गया तो कांटे में उरझा हुआ एक पीपल का पत्ता हमने देखा उसका चमं तो सब सड़कर बह गया था, केवल नाड़ियाँ शिरायें शेष रह गयी थीं। उन्हें हमने ध्यान पूर्वक देखा। पीपल के पत्ते में बीच में एक मोटी-सी शिरा होती है, उसमे से दोनों ओर से शिरायें निकलती हैं, उनमें से फिर और शिरायें निकलती हैं। जैसा पीपल के पत्ते में नाड़ियों का जाल है, वैसा ही नाड़ी जाल मनुष्य शरीर में है। नाड़ी बहत्तर लाख और उससे भी सौ गुनी बहत्तरए करोड़ बतायी हैं। कुछ नाड़ियाँ तो इतनी सूक्ष्मतम हैं, कि वह कैसे भी अणु-वीक्षण यन्त्र द्वारा दिखायी नहीं देतीं। इन नाड़ियों में जब श्लेष्म, पित्तादि मल भर जाते हैं, तो उनमें वायु का संचार नहीं होता। जहाँ की नाड़ियों में वायु प्रवेश न करेगी वे नाड़ियाँ जड़-वत हो जायगीं। उन्हीं मल बद्ध नाड़ियों के कारण जरावस्था तथा नाना प्रकार के रोग होते है। नाड़ियों का मल कभी शरीर को फोड़ कर व्रण के रूप में बाहर निकलता है, तो वे ही दद्रु, खुजली, फोड़ा, फुन्सी कोण के रूप में हो जाते हैं। बहुत से व्रण पकते नहीं वे भीतर ही भीतर बढ़कर अपक्वव्रण के रूप में बढ़ते रहते हैं।

नाड़ियों से अभ्यास सदा करते रहना चाहिये। इस प्रकार अभ्यास करने वाले साधक की तीन महीने से ऊपर ऊपर समय मे नाड़ी शुद्धि हो जाती है।

रोग क्यों होते हैं, पूर्वजन्म कृत पापों के कारण, जिनको हमने पूर्वजन्मों में कष्ट दिया है, वे भोज्य पदार्थ अन्न बनकर हमारे उदर में प्रविष्ट हो जाते हैं। वे मल-पाप-बनकर हमारी नस, नाड़ियों में जम जाते हैं और हमें विविध भाँति के कष्ट पहुँचाते हैं। बहुत से रोग–पाप–तो ओषधियों द्वारा कम हो जाते हैं। बहुत से किसी भी ओषधि से जाते ही नहीं। अतः यम-नियमों द्वारा जीवन को संयमित करके जो प्राणायाम करते हैं, उनकी नाड़ियाँ शनैः-शनै शुद्ध हो जाती हैं। नाड़ियों के शुद्ध हो जाने से समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं। शरीर कृश तथा फूल की भाँति हलका हो जाता है, मुख मण्डल पर एक प्रकार की चमक आ जाती है। नेत्र नीरोग छोटे बालक की भाँति निर्मल स्वच्छ हो जाते हैं, स्वर परम मधुर हो जाता है और विषयों के प्रति उसकी लोलुपता नष्ट हो जाती है। अतः जिसने प्राणायाम का अभ्यास नहीं किया है, उसका शरीर कभी नीरोग रह ही नहीं सकता और जिसने प्राणायाम का विधिवत् अभ्यास किया है, उसके शरीर में किसी प्रकार के रोग प्रवेश कर ही नहीं सकते।

लोग प्राणायाम को बहुत कठिन वस्तु समझ कर उसकी ओर से उदासीन हो जाते हैं। वास्तव में प्राणायाम कोई अपूर्व वस्तु नहीं, कठिन नहीं, सहज,है, स्वाभाविक है, किन्तु उसके लिये दीर्घ काल तक निरन्तर श्रद्धापूर्वक अभ्यास की आवश्यकता है। लोग धनोपार्जन के लिये भूख नींद को परित्याग करके बीस-बीस घन्टे परिश्रम करते हैं, परीक्षा में उत्तीर्ण होने को रात्रि-रात्रि भर जागकर पढ़ते रहते हैं। इसी प्रकार इसके लिये कम-से-कम नित्य नियम से दो प्रहर छः घण्टे समय दे तो शनैः-शनैः नाड़ियाँ शुद्ध हो जायँगी।

जैसे हम व्यायाम करके शरीर को पुष्ट करते हैं, वैसे ही प्राणों का आयाम करके प्राणों को पुष्ट कर लें। इसके लिये सबसे पहिले मिताहार परमावश्यक है। ठूँस-ठूँस कर खाने वाला कभी भी प्राणायाम नहीं कर सकता। जितनी भूख हो, उसका आधा भोजन करे। एक भाग जल के लिये रिक्त रखे और एक भाग वायु को नाड़ियों में आने जाने को खाली रखे। अधिक खा लेने से वायु सब नाड़ियों में जा नहीं सकती। मल अधिक बनता है, वह बाहर पूरा निकलता नहीं, वहीं नसों में जम जाता है जैसे नालियों में कीचड़ जम जाती है। नाली में वैसे ही पानी डाल दो, तो पानी ऊपर ऊपर से वह जायगा, कीचड़ जमी की जमी ही रह जायगी। जब उसे झाड़ू से या किसी फावड़े आदि से बार-बार निकालो और पानी डालते जाओ, तो कीचड़ निकलेगी, फिर भी दोनों ओर जमी रह जायगी। इसके लिये उसे नित्य बार-बार धोना चाहिये, कीचड़ को खुरचना चाहिये तब मोरी निर्मल स्वच्छ होगी। इसी प्रकार हमारी ये आँतें नस नाड़ियाँ रूपी नालियाँ हैं, वे भी वायु और अग्नि के वेग से शुद्ध होगीं। यदि तुम उन्हें शुद्ध तो करोगे नहीं। पेट में निरन्तर खट्टे, मीठे, चर परे पदार्थों को निरन्तर भरते ही रहोगे, तो वे तो रोगों को बढ़ावेंगे ही।

आहार संयमित करो। तुम जितनी ही हलकी वस्तुओं को खाओगे, शरीर उतना ही हलका होता जायगा। जौ, गेहूँ, चावल आदि अन्नों की अपेक्षा, फलों का रस, दूध आदि हलके हैं, इनकी अपेक्षा जल हलका है, जल की अपेक्षा वायु हलकी है। जो जितनी ही अधिक वायु को खाकर पचा लेगा, उसका शरीर उतना ही हलका हो जायगा। जैसे तुम मुख से अन्न खाते हो पानी पीते हो, वैसे ही वायु खाना सीख लो। वायु

जितनी ही अधिक पचने लगेगी, अन्नाहार उतना ही न्यून होता जायगा। जैसे अन्न में जल, तेज, वायु और आकाश मिले रहते हैं, वैसे ही वायु में भी अन्न, जल, तेज और आकाश ये सब रहते हैं। तभी तो प्राचीन ऋषिगण सहस्रों वर्षों तक केवल वायु भक्षण करके ही जीवित रहते थे। वायु तब तक पच नहीं सकती जब तक सब नाड़ियाँ शुद्ध न हो जायँ। अतः अब अथर्वा मुनि शांडिल्य मुनि को नाड़ि शुद्धि का ही उपाय बताते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यम, नियम, आसन और शरीर की नाड़ियों, प्राणों के स्थान कर्म बताकर अब नाड़ियों की शुद्धि का उपाय बताते हुए अथर्वामुनि शाण्डिल्य मुनि से कहते हैं—"जिसे नाड़ी शुद्धि करनी हो, उसे यम, नियमों का पालन करते हुए सभी प्रकार की आसक्तियों से मुख मोड़ लेना चाहिये। सर्व सङ्ग विवर्जित होकर, विद्या प्राप्त करके, सत्य धर्म में निरत रहकर, क्रोध को जीतकर, गुरु शुश्रूषा में निरत होकर, माता पिता के प्रति विनय भाव रखकर, जिस आश्रम में स्थित हो उस आश्रम के सदाचार को भली-भाँति जानकर, ऐसे वन में चला जाय, जहाँ यथेष्ट फल, मूल और जल की सुविधा हो। ऐसे तपोवन को प्राप्त होकर ऐसे स्थान में रहे, जो रमणीक हो, जहाँ ब्राह्मण लोग वेदों का उद्घोष करते हों। जहाँ स्वधर्म में निरत विप्रगण निवास करते हों, जहाँ फल, मूल, फूल, जल आदि सभी की सुविधा हो, समीप ही देव मन्दिर हो, पुण्य नदी का तीर हो ऐसा चाहें ग्राम हो, नगर हो, वहाँ जाकर निवास करे। अभ्यास करने का जो मठ हो वह सुशोभन हो। न तो बहुत ऊँचा ही हो और न बहुत नीचा ही हो। उसका द्वार छोटा हो। गोबर आदि से लिपा पुता स्वच्छ हो, सब प्रकार की रक्षा और सुविधायें हों,

वहाँ पर वेदान्त का श्रवण करते हुए योगाभ्यास को आरम्भ करे।"

सबसे पहिले गणेशजी का पूजन करे, फिर अपने इष्टदेवता को नमस्कार करे, जैसा कि बताया है समभूमि में चैलाजिन कुशोत्तर आसन पर पूर्व की ओर या उत्तर की ओर मुख कर बैठ जाय। अपनी समस्त लौकिक वासनाओं को मार कर, आसन को जीतकर विद्वान् साधक को चाहिये ग्रीवा और शिर को समान करके नासिका के अग्रभाग को देखते हुए, दोनों भौंहों के बीच में चन्द्र बिम्ब का देखते हुए नेत्रों द्वारा अमृत का पान करे।

द्वादश मात्रा समय में इडा से वायु को खींच कर उसे उदर में भर ले। उदर में स्थित जो ज्वालावली युक्त, रेफ बिन्दु से संयुक्त अग्नि मण्डल है, उस अग्नि मंडल को ध्यान करते हुए पिंगला नाड़ी द्वारा वायु को रेचन करदे निकाल दे। फिर पिंगला से वायु को खींचकर उदर को पूरित करे। यथाशक्ति उसे रोककर कुम्भक करके फिर इडा नाड़ी से रेचन करे–निकाल दे। इस प्रकार तीन-तीन, चार-चार बार तीनों सन्ध्याओं में प्राणायाम का अभ्यास करे, तीनों सन्ध्याओं के अन्तराल में भी ६–६ करे, तो इस प्रकार करने से सात, तीन अथवा चार मास में नाड़ी शुद्धि हो जायगी। नाड़ी शुद्धि हो गयी, इसकी पहिचान क्या है? इस विषय में बताते हैं कि नाड़ी शुद्धि होने पर शरीर हलका-कृश हो जाता है, मुख पर दीप्ति आ जाती है, जठराग्नि बढ़ जाती है, कानों में अनहद नाद सुनायी देने लगता है।

इसे प्राणायाम क्यों कहते हैं? इस पर बताते हैं, कि प्राण और अपान के समयोग होने से ही प्राणायाम होता है। वह प्राणायाम रेचक, पूरक और कुम्भक भेद से तीन प्रकार का

होता है। ये तीनों वर्णात्मक होने से अर्थात् प्रणव वर्ण के साथ करने से भी इसका नाम प्राणायाम है।

प्राणायाम कैसे करे? इस पर बताते हैं पद्मासन, सिद्धासनादि किसी भी आसन से स्वस्थ चित्त होकर आसन पर बैठकर नासिका के अग्रभाग को देखता हुआ प्रणव का ध्यान करे। प्रणव में अकार, उकार और मकार तीन वर्ण हैं, इन तीनों वर्ण की तीन देवियों का ध्यान करे। अकार मूर्ति तो गायत्री देवी है, वह चन्द्र बिम्ब के सदृश, ज्योत्स्ना जालवितानिता, रक्त अङ्ग वाली हंस वाहिनी हाथ में दण्ड लिये हुए बाला रूपा है। दूसरी जो उकार मूर्ति सावित्री शक्ति है, वह श्वेताङ्गी, गरुड़वाहिनी चक्रहस्ता युवती है। तीसरी जो मकारमूर्ति सरस्वती है, वह कृष्णाङ्गी, वृषभवाहिनी, त्रिशूल धारिणी वृद्धावस्थापन्ना है। ये जो अकार उकार और मकार वर्ण वाली गायत्री, सावित्री और सरस्वती शक्तियाँ हैं, वे सर्वकारण एकाक्षर परंज्योति स्वरूप जो प्रणव है, वही बन जाती हैं। अर्थात् तीनों मिली हुई ही प्रणव हैं।

इडा नाड़ी से बाहर की वायु को खींच कर उसे पेट में भरे' सोलह मात्रा समय में शनैः-शनैः वायु को खींचे (अपने घोंटू पर चुटकी बजाते हुए जितनी देर में उसके चारों ओर चक्कर लगावे उतने काल को मात्रा कहते हैं) और अकार मात्रा की शक्ति का चिंतन करे। फिर उदर में भरी वायु को चौंसट मात्रा समय तक रोके रखे और उकार शक्ति का चिन्तन करता रहे। फिर पिंगला द्वारा शनैः-शनैः बत्तीस मात्रा समय में मकार शक्ति का ध्यान करते हुए वायु को रेचन करे–उसे बाहर निकाल दे।

अभ्यास करने वाले योगी को चाहिये वह अपने आसन को दृढ़ रखे, मन को वश में रखे। परिमित आहार करे, हितकर आहार करे, सुषुम्ना नाड़ी में स्थित जो मल है उसके शोधन के

लिये योगी बद्ध पद्मासन से बैठकर वायु को चन्द्रनाड़ी से पूरण करके यथाशक्ति कुम्भक करके सूर्य नाड़ी से उसे रेचन कर दे। फिर सूर्य नाड़ी से पूरक द्वारा खींचकर यथाशक्ति कुम्भक करके चन्द्र नाड़ी से रेचन करे। जिससे वायु निकाले, उसी से पूरक करके धारण करे। इस प्रकार तीन विकल्प हुए। इसी भाव का एक मन्त्र है। उसका भावार्थ यह है, कि पहिले वायु को इडा नाड़ी से पीवे-पूरक करे-फिर नियमित मात्रा में पीकर तदनन्तर पिंगला द्वारा रेचन करे। फिर पिंगला द्वारा पीकर वाम जो इडा है उसके द्वारा रेचन करे। इस प्रकार पहिले सूर्य से फिर चन्द्र से पीकर उसके विपरीत से निकाले। इस प्रकार के अभ्यास से साधक की तीन महीने के ऊपर समय में नाड़ी शुद्धि हो जाती है। प्रातः काल, मध्य में, सायंकाल तथा आधी रात्रि में निरन्तर कुम्भक को करता रहे। शनैः-शनैः अभ्यास बढ़ाते-बढ़ाते चारों काल में अस्सी मात्रा तक ले जाय। इस प्रकार अभ्यास करने से पहिली अवस्था में शरीर में स्वेद होने लगेगा। मध्यमावस्था में शरीर में कँप कँपी उठने लगेगी। उत्तम अवस्था उसे समझना चाहिये जब प्राणायाम करते समय पद्मासन बँधे ही बँधे शरीर भूमि से निरालम्ब आकाश में उठने लगे।

प्राणायाम करते समय श्रम से जो स्वेद विन्दुओं द्वारा जल निकले उसे अपने शरीर में ही मल लेना चाहिये। उसके मल लेने से दृढ़ता, लघुता शरीर में आती है। अभ्यास काल में प्रथम दूध तथा घृत का भोजन प्रशस्त बताया है। जब अभ्यास स्थिर हो जाय, तो फिर केवल दूध और घृत का ही आग्रह नहीं। चाहे तो थोड़ा अन्न भी ले सकता है।

देखो, जैसे सिंह, हाथी तथा व्याघ्र एक साथ ही नहीं शनैः शनैः वश में किये जाते हैं, वैसे ही वायु को भी शनैः-शनैः वश में

करे। यदि शीघ्रता करोगे, तो वह साधक को मार देगी। इसलिये बड़ी युक्ति के साथ शनैः शनैः वायु का त्यागन करे शनैः-शनैः ही पूरण करे। बड़ी युक्ति के साथ शनैः-शनैः उसे बाँधकर रखे अर्थात् कुम्भक करे। इस प्रकार साधक शनैः-शनैः अभ्यास करने से सिद्धि को प्राप्त हो जाता है। यथेष्ट वायु धारण करने से जठराग्नि का प्रदीपन, होता है, नाद की अभिव्यक्ति होती है और शरीर रोग रहित हो जाता है। इस प्रकार विधिवत् प्राणायाम करने से नाड़ी शुद्धि हो जाती है। तब यह जो सोयी हुई सुषुम्ना नाड़ी है वह अपने मुख को फाड़ देती है, जिससे सुषुम्ना का रुद्ध मुख द्वार खुल जाता है, उसमें सुखपूर्वक वायु का संचार होने लगता है। वायु का सुषुम्ना के मध्य में संचार होने से मन स्थिर हो जाता है, उसकी चंचलता नष्ट हो जाती है। मन के सुस्थिर भाव का नाम ही मनोन्मनी अवस्था है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार मैंने आप से नाड़ी शुद्धि तथा प्राणायाम का प्रकार बताया। अब आगे जैसे तीन बन्ध, खेचरी मुद्रा तथा कुण्डलिनी जागरण विधि बतायी जायगी उसे मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

नाड़ि शुद्ध है जायँ योगहित तनु तब होवै।
उभय सन्धि निशि दिवस मध्य करि अधिक न सोवै॥
प्रथम स्वेद तनु होइ मध्य होवे तनु कंपन।
उत्तम में उठि जाय बद्ध आसन नभ में तन॥
सिंह, व्याघ्र, गज होहिँ वश, हौलें-हौलें त्यों अनिल।
पान करें वश में करै, होहि शुद्ध बढ़ि तन अनल॥

शाण्डिल्य-उपनिषद्-सार (३)

[३२७]

अर्धोन्मीलितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षण
श्चन्द्रार्कावपि लीनतामुपनयन्निष्पन्दभावोत्तरम्।
ज्योतीरूपमशेषबाह्यरहितं देदीप्यमानं परम्
तत्त्वं तत्परमस्ति वस्तुविषयं शांडिल्य विद्धीह तत् ॥*

(शा० उ० १ म० ३३ मं०)

छप्पय

मूलबन्ध उड्यान करो तुम पुनि जालन्धर।
गुदा, उदर अरु कंठ संकुचित करि हैं सुखकर॥
जिह्वा तलको छेदि करै दोहन ताको नित।
पतली लंबी जीभ उलटि भीतर प्रफुलित चित॥
यह मुद्रा है खेचरी, चित जिह्वा नभ में चरहिं।
आधि व्याधि सब खेचरी, मुद्रा साधक के हरहिं॥

---

* अथर्वा मुनि कहते हैं—"हे शांडिल्य! अब हम तुम्हें परम तत्त्व के विषय में बताते हैं—देखो, आँखें न तो खुली ही हों न सर्वथा बन्द ही हों, अर्ध उन्मीलित लोचन हों, मन स्थिर हो, दृष्टि नासिका के अग्र भाग पर जमी हो, सूर्य और चन्द्र लीनता को प्राप्त हो गये हों, निष्पन्द भाव हो गया हो। बाह्य दृष्टि रहित परम देदीप्यमान अशेष ज्योति रूप दृष्टि गोचर हो, तो यही वस्तु विषयक परम तत्त्व है, हे शांडिल्य उसको तुम ऐसा ही जानो।"

जितने भी ये आसन हैं, प्राणायाम हैं, बन्ध हैं इन सबका एक मात्र उद्देश्य नाड़ियों में भरे मलों को निकाल कर शरीर को स्वच्छ निर्मल तथा आरोग्य बनाना है। क्योंकि रोगी शरीर भली भाँति धर्म कार्य नहीं कर सकता। समुचित रूप से कामोपभोग के सुख को भी अनुभव नहीं कर सकता। अर्थोपार्जन तथा उसका सम्यक् उपभोग नहीं कर सकता। जब धर्म, अर्थ और काम रूपी पुरुषार्थों से ही वह वंचित है, तो परम पुरुषार्थ रूप जो मोक्ष है, उसकी तो कथा ही क्या है ? इससे सिद्ध यही हुआ कि धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इन चारों का ही मूल कारण आरोग्यता ही है। शरीर के आरोग्य निर्मल हो जाने पर ही ध्यानादि साधन सम्भव हो सकते हैं। शरीर निर्मल तथा शुद्ध आसन, प्राणायाम, बन्ध तथा मुद्राओं के अभ्यास के बिना हो ही नहीं सकता। अतः आसन, नाड़ी शुद्धि तथा प्राणायाम के सम्बन्ध में कहकर अब बन्ध तथा मुद्राओं के सम्बन्ध में अथर्वा मुनि शांडिल्य महर्षि से कहते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब आप तीनों बन्धों के सम्बन्ध में तथा खेचरी मुद्रा तथा कुंडलिनी जागृतिके सम्बन्ध में श्रवण करें। तीन बन्ध हैं, मूलबन्ध, उड्डियाण बन्ध और जालन्धर बन्ध। जब पूरक प्राणायाम कर ले अर्थात् बाहर की वायु को नासिका से या मुख से खींचकर उदर में भर ले तब जालन्धर बन्ध को करे। कुंभक के अन्त में और रेचक के आदि में उड्डियाण बन्ध को करे। पहिले मूलबन्ध करके–अर्थात् गुदा का संकोच करके उसे ऊपर की ओर भींच ले, फिर कंठ का संकोच करके मध्य में पश्चिमतान करे। ऐसा करने से प्राण ब्रह्म नाड़ी में चला जायगा। गुदा में रहने वाली अपान वायु को ऊपर की ओर भींचकर खींचे और प्राणवायु को कंठगत नाड़ियों

को नीचे की ओर भींच ले। इससे क्या होगा ? ऐसा करने से योगी वृद्धावस्था से विनिर्मुक्त होकर सोलह वर्ष के युवक के सदृश हो जायगा।

पहिले सुखासन से बैठ जाय फिर दक्ष नाड़ी से–पिंगला से-बाहर स्थित-पवन को खींचकर केश से नख पर्यन्त उसे कुंभक करके–अर्थात् भीतर रोककर--सव्य नाड़ी इडा है उससे रेचन कर दे। इससे होगा क्या ? कपालगत जितनी नाड़ियाँ हैं, वे सब शुद्ध हो जायँगीं। कपाल शोधन से नाड़ियों में जो वातगत सर्वरोग हैं उनका सर्व प्रकार से विनाश हो जायगा। हृदय से लेकर कंठ पर्यन्त स्वाँस के साथ दोनों नासिका पुटों से शनैः शनैः वायु को खींचे अर्थात् पूरक करे। जितनी देर रोक सके उतनी देर रोककर फिर उसे इडा से विरेचन कर दे। यह प्राणायाम चलते-फिरते, उठते बैठते करे। इससे क्या होता है ? नाड़ियों में जो श्लेष्म–कफ--जमा रहता है वह नष्ट हो जाता है। जठराग्नि की वृद्धि होती है।

अब अन्य प्राणायाम बताते हैं—मुख के द्वारा सीत्कार पूर्वक वायु को खींचकर उदर में भर ले। अर्थात् पूरक करे। जितना रोक सकता हो–उतनी देर तक यथाशक्ति कुंभक करके फिर उसे दोनों नासिका के पुटों से शनैः-शनैः रेचन कर दे। इससे क्षुधा, तृष्णा, आलस्य तथा निद्रा नहीं लगती।

अथवा जिह्वा द्वारा वायु को खींचे और यथाशक्ति कुंभक करके नासिका पुटों से उसे निकाल दे। इससे गुल्म, प्लीहा, ज्वर, पित्तादि विकार तथा क्षुधा आदि रोग नष्ट होते हैं।

अब तक जो प्राणायाम बताये ये तो सब पूरक, कुंभक और रेचक तीनों के सहित बताये। अब आगे केवल कुंभक प्राणायाम को बताते हैं—केवल कुंभक दो प्रकार का होता है। एक तो

पूरक रेचक सहित दूसरा केवल कुंभक। जब तक केवल कुंभक सिद्ध न हो तब तक सहित का ही अभ्यास करना चाहिये। जब केवल कुंभक सिद्ध हो जाता है, तब तीनों लोकों में साधक के लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता। अर्थात् वह सब कुछ करने में समर्थ होता है। केवल कुंभक से कुंडलिनी का बोध हो जाता है। उसके लक्षण ये हैं—शरीर कृश हो जाता है, प्रसन्न वदन तथा निर्मल लोचन हो जाते हैं। अनहदनाद की अभिव्यक्ति होने लगती है। समस्त रोग जालों से साधक निर्मुक्त हो जाता है। बिन्दु–ब्रह्मचर्य- को जीत लेता है, जठराग्नि बढ़ जाती है।

अब खेचरी मुद्रा को बताते हैं—लक्ष्य तो भीतर की ओर हो, दृष्टि बाहर की ओर हो। दृष्टि निमेष उन्मेष से रहित स्थिर हो। यही वैष्णवी मुद्रा है। सभी तन्त्र ग्रन्थों में इसे गुप्त रखा है। योगी का चित्त और पवन अन्तर्लक्ष्य विलीन हो, दृष्टि निश्चल तारया हो। अर्थात् न पलक गिरे न खुले, आँख का तारा निश्चल हो। भीतर बाहर देखता हुआ भी न देखे। इसी का नाम खेचरी मुद्रा है। यह शिवामुद्रा लक्ष्य में एकतानता करने वाली है। शून्य और अशून्य से विवर्जित स्फुरित होती है। यह वैष्णवी मुद्रा तत्व पद तक पहुँचाने वाली है। लोचन तो अर्धोन्मीलित हों, मन स्थिर हो, दृष्टि नासिका के अग्र भाग पर जमी हो, सूर्य और चन्द्र लीनता को प्राप्त हो गये हों, निष्पन्द भाव हो गया हो। बाह्य दृष्टि रहित, परम देदीप्यमान अशेष ज्योति रूप दृष्टिगोचर हो, तो यही वस्तु विषयक परम तत्व है, हे शांडिल्य! उसको तुम ऐसा ही जानो।

तार को ज्योति में संयोज करके कुछ भौंहों को ऊपर उठाकर पूर्वाभ्यास का यह मार्ग क्षण में उन्मनी कारक है। इसलिये खेचरी मुद्रा का अभ्यास करे। खेचरी से उन्मनी अवस्था होती

है। उन्मनी अवस्था से योग निद्रा होती है। जिस योगी को योगनिद्रा होने लगे फिर उसके लिये काल नहीं रहता, अर्थात् वह कालातीत हो जाता है। देखो, शांडिल्यजी! जो कुंडलिनी शक्ति है उसमें मन को करके और मन में कुंडलिनी शक्ति को लेकर ले। फिर मन से ही मन को देखकर तुम सुखी होओ।

तुम अपनी आत्मा को आकाश के मध्य में ध्यान करो और आत्मा के मध्य में आकाश को ध्यान करो। इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व ब्रह्मांड आकाशमय करके फिर कुछ भी चिन्तन मत करो। बाहर की चिन्ता नहीं करनी चाहिये और भीतर की भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। सभी प्रकार की चिन्ताओं को छोड़कर परम चिन्मात्र हो जाओ। जैसे कर्पूर वायु में विलीन हो जाता है। सैंधा नमक जल में विलीन हो जाता है। उसी प्रकार जब मन सत् पदार्थ में विलीन हो जाय, तब जो भी प्रतीत हो रहा है वह ज्ञेय हो जाता है और उसका ज्ञान मन कहा जाता है। ज्ञान तथा ज्ञेय दोनों ही समान भाव से नष्ट हो जायँ यही पन्था है, इसके अतिरिक्त दूसरा कोई पन्था है ही नहीं। ज्ञेय जो कुछ प्रतीत हो रहा है उस वस्तु के परित्याग से मन विलय को प्राप्त हो जाता है। मन के विलय हो जाने पर कैवल्य ही अवशिष्ट रह जाता है।

अथर्वा मुनि महर्षि शांडिल्यजी से कह रहे हैं—"देखो, मुनीश्वर शांडिल्यजी! चित्त नाश के दो क्रम हैं। एक तो योग, दूसरा ज्ञान। योग तो चित्त वृत्ति निरोध को कहते हैं, सम्यक् अवेक्षण-भले प्रकार देखने-का नाम ज्ञान है। चित्त की वृत्तियों के निरोध होने से मन उप शान्त हो जाता है। मन की चंचलता शान्त हो जाने पर फिर यह संसार विलीन हो जाता है। जैसे सूर्य के आलोक के शान्त हो जाने पर समस्त व्यवहार शान्त

हो जाते हैं। अर्थात् जब तक सूर्य का प्रकाश रहता है, तभी तक यह घट है यह पट है ये वस्तुएँ दीखती हैं। अंधकार होने पर सब एक से दीखने लगते हैं।"

शास्त्र और सज्जनों के सम्पर्क से तथा वैराग्य और अभ्यास के योग से, पूर्व संसार वृत्तियों में तथा अनस्था में आस्था करने से, यथाभिमत इच्छित ध्यान करने से चिरकाल तक निरन्तर हित में संलग्न रहने से तथा एक तत्त्व के दृढ़ अभ्यास से प्राणों का स्पन्दन रुक जाता है अर्थात् समाधि प्राप्त हो जाती है। केवल कुम्भक होने लगती है। यह तो प्राण स्पन्दन रुकने के उपाय हुए, अब मन का किन उपायों से निरोध होता है, इसे बताते हैं—

पूरक, कुम्भक तथा रेचक इन प्राणायामों का अभ्यास तब, तक करता रहे जब तक खेद न हो—थक न जाय। इस प्रकार प्राणायाम के दृढ़ अभ्यास से तथा एकान्त में ध्यान योग करने से मन का भटकना रुक जाता है। मांस की मुख में लटकती घण्टी काक—का अतिक्रमण करके जिह्वा उलट कर जब तालु के मूल में चली जाती है—अर्थात् खेचरी मुद्रा हो जाती है तब भी प्राणों की धड़कन रुक जाती है। तालु के ऊपर, बारह अंगुल प्राण में संवित्त के गलित हो जाने से अभ्यास से ऊपर के ब्रह्मरन्ध्र में जब प्राण पहुँच जाते हैं, तब भी प्राणों की धड़कन रुक जाती है। अर्थात् केवल कुम्भक हो जाती है। नासिका के अग्र भाग से, बारह अंगुल पर्यन्त विमल आकाश में संविद् दृष्टि प्रशान्त होने से भी प्राणों का स्पन्दन—प्राणों का जो चलना है—वह रुक जाता है।

दोनों भौंहों के बीच में तारका का जो आलोक है उसका जब शान्त अन्त प्राप्त होता है। मन के जो संकल्प हैं—चेतना का

जो एक तानता है उसमें जब मन बँध जाता है, तब प्राणों का स्पन्दन-कंपन-रुक जाता है। ओंकार के उद्भूत जो ज्ञान ज्ञेयात्मक शिव है, उससे असंस्पष्ट विकल्पांश होने पर प्राणों का स्पन्दन रुक जाता है। चिरकाल तक हृदय के एकान्त व्योम में सम्वेदना करने से वासना रहित मन के ध्यान करने से भी प्राणों का स्पन्दन रुक जाता है। इन क्रमों से तथा ऐसे ही अन्य उपायों से भी नाना संकल्प कल्पितों द्वारा तथा नाना देशिक मुखों द्वारा अथवा देशिक सूक्तों द्वारा प्राणों का स्पन्दन रुक जाता है।

तीनों बन्धों द्वारा गुदा के, उदर के तथा कण्ठ की नाड़ियों के आकुञ्चन-सिकोड़ने से कुण्डलिनी शक्ति जो कपाट रूपा है, कुण्डलिनी जो सुषुम्ना के द्वार पर किवाड़ रूप में बैठी है, उस किवाड़ को खोलकर मोक्ष के द्वार का विभेदन करती है। अर्थात् बन्धों द्वारा सुषुम्ना का मुख जो मोक्ष का मानों द्वार ही है, वह खुल जाता है। क्योंकि कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्ना के जिस द्वार से प्राण जाना चाहिये उस द्वार को अपने मुख से रोक कर वहाँ प्रसुप्त पड़ी है। कुण्डलिनी कुटिलाकार है, वह सर्पिणी की भाँति सुषुम्ना को लपेटे हुए पड़ी है। उस कुण्डलिनी शक्ति को जो जाग्रत कर लेता है, वह मुक्त हो जाता है। वह कुण्डलिनी कण्ठ के ऊर्ध्व भाग में सोई हुई पड़ी है। जो लोग उद्योगी होते हैं उन्हीं के लिये वह मुक्ति का कारण हो जाती है। वही मूढ़ों के लिये बन्धन का-अधः लोकों में जाने का-कारण बनती है। इडा और पिंगला इन दोनों के मार्ग को छोड़कर जब प्राण सुषुम्ना मार्ग के द्वारा चलने लगता है, बस वही विष्णु का परम पद मुक्ति है। मरुद् अभ्यसन-अर्थात् प्राणायाम के अभ्यास-को मनोयुक्त होकर करना चाहिये, मनीषियों को चाहिये मन की वृत्ति इधर-उधर नहीं करनी चाहिये।

देखो, विष्णु की पूजा दिन में न करे, रात्रि में न करे, अपितु विष्णु पूजा सतत-निरन्तर करते ही रहना चाहिये, दिन रात्रि का कोई नियम नहीं। पञ्चस्रोत समन्वित जो सुषिर है-सुषिरभाव है-वह ज्ञान जनक है। वह खेचरी मुद्रा में ही रहता है। हे शाण्डिल्य! तुम उसी खेचरी मुद्रा को प्राप्त करो। सव्य-बायीं, दक्षिण-दायीं-जो इडा और पिंगला नाड़ियाँ हैं इनके बीच में अर्थात् सुषुम्ना में जब प्राण संचार करने लगते हैं तो उसी स्थान में खेचरी मुद्रा होती है, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है। इडा और पिङ्गला के मध्य में जो शून्य आकाश है, उसमें जो अनिल-वायु है उसे खाती हुई खेचरी मुद्रा वहाँ रहती है। अर्थात् सुषुम्ना में जब प्राणों का संचार होने लगता है तो सुषुम्नागत वायु को ही खेचरी मुद्रा खाकर रहती है। वहीं सत्य की प्रतिष्ठा है।

सोम और सूर्य-इडा और पिंगला-के मध्य में निरालम्ब स्थान के तले अर्थात् व्योम चक्र में वह खेचरी मुद्रा रहती है। अब खेचरी का लक्षण बताते हुए कहते हैं। कि जिह्वा के नीचे जो मांस बढ़ जाता है, उसका छेदन करके फिर दोनों हाथों से जीभ को लम्बा करने को उसका दोहन चालन करे। अर्थात् जिह्वा के नीचे की नाड़ियों के मल को जला दे तब जिह्वा लम्बी और पतली हो जायगी, उस समय दृष्टि को तो दोनों भौंहों के मध्य में जमाले, जिह्वा को उलटी करके कपाल कुहर में उसे पहुँचा दे। उसी को खेचरी मुद्रा कहते हैं। जिह्वा और चित्त दोनों जब आकाश विचरण करते हैं, जब जिह्वा पलट कर ऊर्ध्व होकर ऊपर की ओर जाने लगती है, तब साधक अमर हो जाता है।"

वाम पाद के मूल से-अर्थात् बायीं एड़ी से-योनि

संपीडन करके तथा दायें पैर को फैलाकर उस फैले हुए पैर को दोनों हाथों से कसकर पकड़े। फिर दोनों नासिका पुटों से वायु को भीतर की ओर खींचकर उदर में भर ले और कण्ठ को बाँधकर—अर्थात् जालन्धर बन्ध करके—वायु को धारण करे रहे। इससे सभी प्रकार के क्लेशों का नाश हो जायगा। उस समय ऐसी मुद्रा करने से शरीरस्थ विष अमृत की भाँति जीर्ण हो जाता है। क्षय, गुल्म, गुदावर्त तथा कुष्ठादि समस्त दोष नष्ट हो जाते हैं। यही प्राणों के विजय करने का उपाय है, सभी प्रकार की मृत्युओं का उपघातक है, अर्थात् अकाल मृत्यु को हरण करने वाला है—

बायें पैर की एड़ी को योनि स्थान में स्थापित करके दक्षिण जो दायाँ चरण है उसे बायाँ ऊरु पर रखकर वायु को बाहर से खींचकर उदर में भर ले। चिबुक को दृढ़ता से कसकर हृदय में लगा ले। योनि स्थान का आकुञ्चन करके—सिकोड़ कर—मन के मध्य में प्राणों को यथा शक्ति धारण करके अपनी आत्मा का चिन्तन करे। इस प्रकार की भावना से अपरोक्ष सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

बाहर से प्राणों को खींचकर, उदर में भर ले। फिर उस वायु को नाभि के मध्यभाग में, नासिका के अग्र भाग से पैर के अँगूठे तक यत्न पूर्वक मन के द्वारा धारण करे, दोनों सन्ध्याओं के समय अथवा सभी समय इस अभ्यास को करे। तो वह साधक सभी प्रकार के रोगों से विनिर्मुक्त हो जाता है और उसका समस्त श्रम नष्ट हो जाता है। अर्थात् स्वस्थ हो जाता है। नाभि के मध्य में प्राण धारण करने से समस्त रोगों का नाश हो जाता है। पैरों के अँगूठों में प्राण धारण करने से शरीर में लघुता आ जाती है।

जिह्वा से वायु को खींचकर जो साधक वायुपान करता है,

उसे श्रम, दाहादि नहीं होते उसकी समस्त व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं। दोनों सन्ध्याओं में जो ब्रह्मवेत्ता वायु को खींचकर पीता है, तीन महीने में ही उसकी वाणी सरस्वती कल्याणी हो जाती है। इस प्रकार छैः महीने अभ्यास करने से सर्व रोगों की निवृत्ति हो जाती है।

जिह्वा से वायु को खींचे और जिह्वा के मूल भाग में उसका निरोध कर ले। इस प्रकार जो विद्वान् ऐसे अमृत का पान करता है, उसका सर्वत्र सम्पूर्ण कल्याण ही कल्याण होता है। अपनी आत्मा से ही आत्मा को इडा में धारण करके दोनों भौंहों के मध्य में उसे विभेदन करके धारण करता है तो उसे देवताओं का जो आहार-अमृत है उसकी प्राप्ति होती है और वह सभी प्रकार की व्याधियों से मुक्त हो जाता है।

इडा और पिंगला दोनों नाड़ियों से जो वायु को खींचकर उसे नाभि में तथा तुन्द के दोनों पार्श्वों में एक घड़ी पर्यन्त धारण किये रहता है, वह समस्त व्याधियों से छूट जाता है।

एक महीने पर्यन्त तीनों सन्ध्याओं में वायु को जिह्वा से पीकर उस अमृत को उदर में, तुन्द में धारण करता है उसके सभी प्रकार के ज्वर-अर्थात् रोग नष्ट हो जाते हैं, सभी प्रकार के विष पच जाते हैं। जो साधक एक मुहूर्त तक भी नित्य ही नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि लगाकर मन से ध्यान करता है, तो वह सभी पापों से छूट जाता है, सैकड़ों जन्मों के किये पाप भी नष्ट हो जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब तक यम, नियम, आसन और प्राणायाम योग के इन अंगों का वर्णन किया। अब आगे प्रत्याहार धारणा, ध्यान और समाधि के सम्बन्ध में जैसे बतावेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

दिवस निशा तजि भेद सतत श्रीहरिकूँ पूजो।
प्रभु पूजा कूँ छोड़ि मुक्ति मारग नहिं दूजो॥
जिह्वा तैं पी पवन उदर में ताकूँ धारो।
आधि व्याधि सब क्लेश, और सबरे विष जारो॥
नासा तैं खींचो अनिल, उदर माहिं धारन करो।
यों तन मन के रोग सब, प्राण धारि सुख तैं हरो॥

(६१) शांडिल्य-उपनिषद्-सार (४)

[३२८]

यश्च विश्वं सृजति विश्वं
बिभर्ति विश्वं भुङ्क्ते स आत्मा ।
आत्मनि तं तं लोकं विजानीहि ।
माशोचीरात्मविज्ञानी शोकस्यान्तं गमिष्यति ॥*
(शा० उ० २ अ० अन्तिम० मं०)

छप्पय

प्रत्याहारहु पाँच विषय जो पंच कहावैं ।
इन्द्रिय विचरति तिनहिँ हटावैं मन में लावैं ॥
पाद, गुल्फ, उरु, जाँघ, जानु, गुद, लिंग नाभि, हृद ।
कण्ठ कूप, भ्रूमध्य, तालु, नासा, ललाट सिर ॥
आँखि, मरम सोलह कहे, थल तिनि विचरत चित रहत ।
जिनिमें जस संयम करो, सिद्धि होइ तिनि में तुरत ॥

मन और प्राण दोनों की गति एक है। मन के संयम से

---

* अथर्वा मुनि कहते हैं—"जो सम्पूर्ण विश्व को उत्पन्न करता है, उत्पन्न करके उसका धारण पोषण पालन करता है, अन्त में जो उसे भक्षण कर लेता है, वही आत्मा है। आत्मा में ही उन लोकों को जानो। तुम सोच मत करो जो आत्मा विज्ञानी हो जाता है, वह शोक को तर जाता है, शोक के उस पार चला जाता है।"

प्राण संयमित हो जाते हैं और प्राणों से संयम से मन संयमित हो जाता है। मन को एकाग्र करके प्राण वायु को जिस स्थान में जिस मन्त्र में, जिस लोक में स्थिर कर दें, चित्त की बिखरी वृत्तियों को एकत्रित करके जहाँ पर लगा दें, उस एकाग्र हुई वृत्ति का ही नाम संयम है। प्राणायाम करके मन सहित प्राण को भावनानुसार जहाँ भी दृढ़ता से लगा दे, तो समाहित चित्त में संयमित मन में अपार शक्ति हो जाती है। यह संयम भी प्राणायाम का ही एक अङ्ग है। आगे इसी को बताते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! एक मूहूर्त पर्यन्त भी नित्य-नित्य नासिका के अग्र भाग पर ध्यान लगाकर प्राणों के संयम का जो अभ्यास करता है, तो योग मार्ग में जो अन्तराय रूप में जन्मान्तर कृत पाप हैं, वे सैकड़ों जन्मों के किये हुए पाप इस ध्यान से नष्ट हो जाते हैं।"

तारमन्त्र—जो ओंकार है, उसमें संयम करने से सकल विषयों का अपने आप ही ज्ञान हो जाता है। नासिका के अग्रभाग में चित्त का संयम करने से इन्द्रलोक का ज्ञान हो जाता है। नासिका के नीचे चित्त संयम से अग्निलोक का, चक्षु में चित्त संयम से सभी लोकों का, श्रोत्र में संयम से यमलोक का, उसके पार्श्व में करने से निर्ऋतिलोक का, उसके पृष्ठभाग में संयम से वरुण लोक का, वाम कर्ण के संयम से वायुलोक का, कण्ठ में सोम लोक का, वायें चक्षु में करने से शिवलोक का, सिर में ब्रह्मलोक का, पैर के नीचे भाग में करने से अतललोक का, पाद में वितल, पाद सन्धियों में नितल, जंघों में करने से सुतल, जानुओं में करने से महातल, ऊरुओं में करने से रसातल, कटि में करने से तलातल, नाभि में से भू लोक, दोनों कुक्षियों में से भुवर्लोक, हृदय में से स्वर्गलोक, हृदय के ऊर्ध्व भाग में करने से महर्लोक,

कण्ठ में करने से जनलोक का, भ्रूमध्य में से तपोलोक, मूर्धा में करने से सत्यलोक का ज्ञान हो जाता है, धर्माधर्म में करने से अत त अनागत का ज्ञान हो जाता है। जिस-जिस जन्तु की ध्वनि में संयम करने से उस जाति के समस्त जन्तुओं का ज्ञान हो जाता है। अपने संचित कर्मों में चित्त संयम से पूर्वजाति का ज्ञान हो जाता है। दूसरे के चित्त में चित्त संयम करने से परचित्त का ज्ञान हो जाता है। शरीर रूप में चित्त संयम से दूसरों को अपना शरीर दिखायी नहीं देता। बल में चित्त संयम करने से हनुमान् आदि महाबलियों के सदृश बल हो जाता है। सूर्य में चित्त संयम से भुवनज्ञान, चन्द्र में करने से तारा व्यूह ज्ञान, ध्रुव में से तद्गति दर्शन, स्वार्थ में संयम करने से पुरुष ज्ञान, नाभिचक्र में करने से कायव्यूह ज्ञान, कण्ठ कूप में से क्षुधा पिपासा की निवृत्ति, कूर्म नाड़ी में से स्थैर्य, तारा में से सिद्ध दर्शन, काया के आकाश में संयम करने से आकाश में गमन करने की शक्ति आ जाती है। जिस-जिस स्थान में संयम करोगे उसकी सिद्धि प्राप्त हो जायगी। यह तो प्राणायाम द्वारा प्राण चित्त के संयम की महिमा कही। इस प्रकार यम, नियम, आसन और प्राणायाम इन योग के चार अङ्गों का वर्णन हुआ। अब पाँचवें प्रत्याहार के सम्बन्ध में भी सुनिये। अब प्रत्याहार विषय को कहते हैं। वैसे प्रत्याहार शब्द का अर्थ है अपने-अपने विषयों से इन्द्रियों को हटाकर आत्मा में-इष्ट में-लगाना। जैसे पाँचों इन्द्रियों के शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये पाँच विषय हैं, उन विषयों से नेत्र आदि इन्द्रियों को बलपूर्वक हटाकर उनको अन्तःकरण में ही लगाना यही प्रत्याहार कहलाता है।

अथर्वा मुनि शाण्डिल्यजी से कह रहे हैं—"देखो, सम्पूर्ण

विषयों से पराङ्मुख होना ही प्रत्याहार है। देखो, (१) पैरों के अँगूठे, (२) गुल्फ (टखना) (३) जंघा, (४) जानु, (५) ऊरु, (६) गुदा, (७) लिंग, (८) नाभि, (९) हृदय, (१०) कण्ठ कूप, (११) तालु, (१२) नासिका, (१३) आखें, (१४) भौंहों का मध्य-भाग, (१५) ललाट और (१६) मूर्धा ये सोलह मर्म स्थान हैं। इन इन स्थानों में क्रम से चित्त सहित प्राणों को धारण करने का ही नाम प्रत्याहार है। इन स्थानों में क्रम से प्राणों का, आरोहण, अवरोहण करना, इन्द्रियों को बार-बार विषयों से हटाकर अन्तःकरण में ही लगाना यही प्रत्याहार है। इस प्रकार योग के पाँचवें अंग प्रत्याहार को कहकर अब छटे अंग धारणा को बताते हैं।

कहते हैं—"धारणा तीन प्रकार की होती है। पहिली तो आत्मा में मन को धारण करना। दूसरी धारणा है दहर जो हृदयाकाश है, उसमें बाहर के आकाश को धारण करना। तीसरी धारणा है, शरीर के जो पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश पञ्चभूत हैं उनमें बाहरी पाँच मूर्तियों को धारण करना। अब योग के छटे अंग धारणा को कह कर सातवें अंग ध्यान को बताते हैं।"

देखो, ध्यान दो प्रकार का होता है एक तो सगुण ध्यान और दूसरा निर्गुण ध्यान। सगुण ध्यान तो उसे कहते हैं अपने इष्ट की मूर्ति के अंगों का यथावत ध्यान करना और निर्गुण ध्यान निर्गुण निराकार आत्मा का यथातथ्य ध्यान करना। इस प्रकार ध्यान करते-करते समाधि लग जायगी। अब योग का आठवाँ अङ्ग जो समाधि है उसके सम्बन्ध में बताते हैं।

देखो, ध्यान की परिपक्वावस्था का ही नाम समाधि है। जीवात्मा और परमात्मा की ऐक्य अवस्था का ही नाम समाधि

है। जहाँ ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय, ध्याता, ध्यान और ध्येय आदि जो त्रिपुटी हैं। उस त्रिपुटी से रहित जो अवस्था है। जहाँ तीन पृथक-पृथक न रहकर तीनों एक हो जायँ, उस परम आनन्द स्वरूप शुद्ध चैतन्यात्मिका स्थिति का ही नाम समाधि है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार यम, नियम, आसन, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि योग के इन आठों अङ्गों को कहकर शांडिलोपनिषद् का प्रथम अध्याय समाप्त होता है।"

अब दूसरे अध्याय में शांडिल्य महर्षि चारों वेदों में जो अलभमान ब्रह्मविद्या है, उसे पूछने के लिये अथर्वा मुनि की शरण में गये। उनसे विनय पूर्वक उन्होंने प्रश्न किया—"भगवन्! अब हमें उस ब्रह्मविद्या का उपदेश करें, जिससे हमारा श्रेय-कल्याण हो।"

महर्षि शांडिल्य के इस प्रश्न को सुनकर महामुनि अथर्वा ने कहा—"शांडिल्य! तुम ब्रह्म के विषय में पूछते हो?"

देखो, सत्य स्वरूप, विज्ञान स्वरूप तथा अनन्त स्वरूप जो है वही ब्रह्म है। जिसमें यह सम्पूर्ण जगत् गड्ड-मड्ड-ओत-प्रोत-हो रहा है, जिसमें यह संपूर्ण विश्व ऐति-प्राप्त होता है, जिस एक ही ब्रह्म को जान लेने पर चराचर विश्व के सम्पूर्ण पदार्थ जाने जा सकते हैं। उस ब्रह्म के हाथ नहीं, पैर नहीं, चक्षु नहीं, श्रोत नहीं, जिह्वा नहीं, शरीर नहीं है। वह अग्राह्य है। जिस का किसी प्रकार निर्देश नहीं किया जा सकता। उसके सम्बन्ध में कुछ भी न कर कर वहाँ से वाणी बिना कुछ कहे ही लौट आती है। मन भी उसके सम्बन्ध में बिना कुछ विचार किये वाणी के साथ लौट आता है। वह इन्द्रियाँ मन वाणी से नहीं जाना जा सकता। वह केवल ज्ञानगम्य है। यह जो पुरानी प्रज्ञा है उसी

रूप होते हैं। (१) सकल, (२) निष्कल और (३) सकल निष्कल। अब इन तीनों की व्याख्या सुनिये।"

जो सत्य, विज्ञान, आनन्द, निष्क्रय, निरञ्जन, सर्वगत, सुसूक्ष्म, सर्वतोमुख, अनिर्देश्य तथा अमृत स्वरूप है, वही उस ब्रह्म का निष्कल रूप है। निष्कल रूप की व्याख्या करके अब सकल निष्कल के सम्बन्ध में बताते हैं।

देखो, जो सहज अविद्या है, जिसे मूल प्रकृति, माया तथा लोहित शुक्ल कृष्णा भी कहते हैं। उसका जो सहायवान् देव है, जो कृष्ण पिङ्गल मम ईश्वर इष्ट है, वही इस ब्रह्म का सकल निष्कल रूप है। अब इसके सकल रूप के सम्बन्ध में बताते हैं—

देखो, यह जो ज्ञानमय है जो तपस्या द्वारा चीयमान होकर यह कामना करता है कि मैं एक से बहुत प्रजा के रूप में उत्पन्न हो जाऊँ। इसके अनन्तर तपस्या करने से, इस सत्य काम से तीन अक्षर प्राण स्वरूप उत्पन्न हुए। जैसे तीन व्याहृतियाँ, त्रिपदा गायत्री, तीन वेद, तीन वर्ण तथा तीन अग्नियाँ उत्पन्न हुईं। यह जो देव भगवान् हैं वे सर्वैश्वर्य सम्पन्न हैं, सर्वव्यापी तथा सभी प्राणियों के हृदय में संनिविष्ट हैं। वे मायावी हैं, माया द्वारा ही क्रीड़ा करते हैं। वे ही ब्रह्मा हैं, वे ही विष्णु हैं। वे ही रुद्र, इन्द्र, सर्वदेव तथा समस्त भूतमय हैं। वे ही आगे हैं, वे ही पीछे हैं। वे ही उत्तर, दक्षिण, ऊपर तथा नीचे सर्वत्र हैं। सर्वमय हैं। उस देवता को आत्मशक्ति की आत्मक्रीड़ा से भक्तों के ऊपर अनुकम्पा करने के निमित्त दत्तात्रेय रूप से सुन्दर स्वरूप वाले शरीर पर सुन्दर वस्त्र धारण किये कमल के समान नेत्र वाले तथा चतुर्भुज रूप में प्रकट

जिनकी भुजायें अघोर पापों को नाश करने वाली हैं। यह उस ब्रह्म का सकल रूप है।

इस पर उन अथर्वामुनि से शाण्डिल्य महर्षि ने पूछा—'भगवन्! उसे परंब्रह्म सन्मात्र तथा चिदानन्द एक रस क्यों कहते हैं?"

इस पर अथर्वामुनि ने कहा—"जिससे यह वृद्धि को प्राप्त होता है, अथवा जो इस सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड को बढ़ाता है, इसलिये उसे परंब्रह्म कहते हैं। फिर आत्मा क्यों कहते हैं? इस पर बताते हैं, कि जिससे सभी व्याप्त हैं, जो सबको ढक लेता है, सबकी रक्षा करता है और अन्त में सबको भक्षण कर लेता है इसीलिये उसे आत्मा कहते हैं। अच्छा इसे महेश्वर क्यों कहते हैं? जिससे महत् ईश है। अर्थात् महान स्वामी है। यह घन्यात्मक शब्द है। आत्मशक्ति द्वारा महान् ईश्वर है इसीलिये इसे महेश्वर कहते हैं। अच्छा, इसे दत्तात्रेय क्यों कहते हैं? दत्तात्रेय इसलिये कहते हैं, कि अत्रिमुनि ने पुत्र की कामना से सुदुश्चर तप किया था। उनके तप से तुष्ट होकर ज्योतिर्मय भगवान् ने अपने आप को ही दत्त-दे दिया था—इसीलिये भगवती अनसूया के गर्भ से साक्षात् भगवान् ही प्रादुर्भूत हुए। अत्रि मुनि के पुत्र होने से आत्रेय कहाये। पहिले भगवान् ने कहा था। 'मया दत्तम्' मैंने तुम्हें अपने को दे दिया। इसीलिये दत्त+आत्रेय=दत्तात्रेय कहलाये।

अथर्वामुनि शाण्डिल्य महर्षि से कह रहे हैं—"मुनिवर! जो इस प्रकार इन नामों की निरुक्तियों को जानता है, वह सब कुछ जानता है। जो इस विद्या की इस उपनिषद् की उपासना 'सोऽहम्' भाव से करता है, वह ब्रह्मविद हो जाता है। इस विषय के ये प्राचीन मन्त्र प्रसिद्ध हैं। उनका भाव यह है—जो

कोई इन्द्र नील मणि की आभा वाले शिव,शान्त प्रभु दत्तात्रेय का ध्यान करता है। कैसे हैं वे दत्तात्रेय प्रभु ? वे आत्मामाया में ही निरत रहते हैं, अवधूत रूप में दिगम्बर वेष से रहते हैं। उनका सम्पूर्ण शरीर भस्म से उद्धूलित है, सिर पर जटा जूट धारण किये हुए हैं, सर्वत्र व्याप्त हैं, दिव्यगुण वाले हैं, जिनके चार भुजायें हैं, जिनके सभी अङ्ग सुन्दर हैं, जिनके नेत्र कमल के सदृश प्रफुल्लित हैं। जो ज्ञान और योग की निधि हैं। समस्त विश्व के गुरु हैं, सभी योगियों के लिये जो अत्यन्त ही प्रिय हैं, जो भक्तों के ऊपर सदा अनुकम्पा करते रहते हैं, जो सबके साक्षी हैं, जो सिद्धों द्वारा सेवित हैं। इस प्रकार के सनातन भगवान् दत्तात्रेय देव का जो निरन्तर ध्यान करते हैं, वे सभी पापों से निर्मुक्त होकर मुक्ति-निःश्रेयस्–को प्राप्त होते हैं। हरि ओं सत्यम्। इस प्रकार यह शाण्डिल्य उपनिषद् समाप्त हुई।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार मैंने शाण्डिल्य उपनिषद् का सार आप से कहा। अब आप पैङ्गल उपनिषद् को श्रवण करें।"

छप्पय

त्रिविध धारना कहीं, आत्म-मन धारन करि तहँ।
दहर नमहिँ नम माहिँ भूत-तन पंचभूत महँ॥
ध्यान सगुन प्रभुमूर्ति आतम निरगुन बतलायो।
जीवात्मा-परमात्म एकता लक्ष्य बतायो॥
जाहि समाधिहु कहत मुनि, मन ध्यात सब थल रहत।
ताहि आतमा, ब्रह्मपर, दत्तात्रेयहु प्रभु कहत॥

इति शाण्डिल्य-उपनिषद् सार समाप्त

(६२) पैङ्गल-उपनिषद्-सार (१)

[३२६]

यथा जले जलं क्षिप्तं क्षीरे क्षीरं घृते घृतम् ।
अविशेषो भवेत् तद्वज्जीवात्म परमात्मनोः ॥*
(पैं० उ० ४ अ० १० मं०)

छप्पय

वर पैङ्गल उपनिषद् ज्ञाननिष्ठा जामें अति ।
याज्ञवल्क्य मुनि कही महामुनि पैङ्गल के प्रति ॥
परम रहस कैवल्य प्रश्न को उत्तर जामें ।
कैसे यह ब्रह्माण्ड ब्रह्म प्रविश्यो कस तामें ॥
ब्रह्म-अण्ड जड़ वत परयो, प्रविसि ब्रह्म चेतन करयो ।
माया मोहित ईश यह, जीव भाव प्रापत भयो ॥

उपनिषदें कई प्रकार की हैं, बहुत-सी शैव उपनिषदें हैं। बहुत-सी वैष्णव, शाक्त, गाणपत्य तथा सौर उपनिषदें हैं, किसी

* महामुनि याज्ञवल्क्य पैङ्गल मुनि से कह रहे हैं—"मुनिवर! जैसे जल की कोई नदी है, उसमें घड़ा भरके जल डाल दो, घृत के भरे पात्र में थोड़ा घृत और डाल दो, दूध के भरे पात्र में एक लोटा दूध और डाल दो। तो जैसे विशेष अविशेष दोनों ही मिलकर एक हो जाते हैं, उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा दोनों मिलकर एक हो जाते हैं।"

में ज्ञान की चर्चा है, किसी में कर्म, उपासना योग तथा भक्ति का विषय है। अपने अपने मत को सिद्ध करने को उनमें अपने-अपने सिद्धान्त बताये गये हैं। उनमें प्रायः एक ही-सी बातें कहीं गयी हैं। जैसे योग सम्बन्धी उपनिषदें हैं। उन सबमें प्रायः यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि योग के इन आठ अङ्गों के सम्बन्ध में बताया गया है। कहीं कहीं किसी-किसी में साधारण-सा मतभेद है जैसे यम, नियमों को कोई ५-५ कोई १०-१० कोई बारह-बारह बताती हैं। वास्तव में देखा जाय,तो वह मतभेद भी नगण्य ही है। इसी प्रकार जो ज्ञान प्रधान उपनिषदें हैं, उन सबमे प्रायः जीव ब्रह्म की एकता को ही सिद्ध किया गया है, कहीं-कहीं जीव और ब्रह्म दोनों को अनादि सनातन बताकर द्वैत का भी कथन किया गया है। वास्तव में हमारे यहाँ मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्नाः को माना गया है और अन्त में कह दिया है जो जिस भावना से भजता है, वह उसी भाव वाला हो जाता है। इसी सिद्धान्त को भगवान् ने गीता में भी कहा है, जो जैसे मेरी शरण मे आते हैं, मैं भी उन्हें वैसा ही भजता हूँ। क्योंकि जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही हो जाता है। पैङ्गल उपनिषद् अद्वैतपरक ज्ञान प्रधान उपनिषद् है। इसका 'पूर्ण मदः' इत्यादि शान्तिपाठ है। चार अध्यायों वाली यह छोटी-सी उपनिषद् है, इसमें पैङ्गल मुनि और याज्ञवल्क्यजी का सम्वाद है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं आपको पैङ्गल उपनिषद् का सार सुनाता हूँ। एक पैङ्गल नाम के ऋषि थे। वे ज्ञान प्राप्ति के निमित्त महान् ज्ञानी, सुप्रसिद्ध ब्रह्म तत्त्ववेत्ता महामुनि याज्ञवल्क्यजी की शरण में गये। और वहाँ जाकर यथोचित शिष्टाचार के अनन्तर उन्होंने विधिवत् गुरु सुश्रूषा करते

उनके समीप बारह वर्षों तक निवास किया। शिष्य को अन्तेवासी इसीलिये कहते हैं, कि वह गुरु के समीप निवास करके उनकी सेवा सुश्रूषा करता है। जो ज्ञानार्थी कम से कम एक वर्ष तक अपने समीप रहकर सेवा न करे उसे ज्ञानोपदेश नहीं करना चाहिये। सामान्यतया बारह वर्ष गुरु की सेवा करने के अनन्तर साधक उपदेश प्राप्त करने का अधिकारी होता है। पैङ्गल मुनि ने बारह वर्षों तक भगवान् याज्ञवल्क्य की सेवा की। बारह वर्ष सेवा करने के अनन्तर उन्होंने गुरुदेव से जिज्ञासा की—"भगवन्! जो परम रहस्यमय कैवल्य तत्त्व है, कृपा करके उसे आप मुझे बतावें।"

अपने अनुगत शिष्य पैङ्गल मुनि के प्रश्न को सुनकर महामुनि याज्ञवल्क्य कहने लगे—"हे सोम्य! वह देव इस जगत् से भी आगे था। वह नित्य, मुक्त, अविक्रिय, सत्यज्ञान आनन्द रूप, परिपूर्ण, सनातन, एक तथा अद्वितीय ब्रह्म है। उसमें मरु शुक्तिका की भाँति, स्थाणु स्फटिक की भाँति, जल में चाँदी की रेखा आदि की भाँति लाल, शुक्ल और कृष्ण गुणमयी, साम्य-गुण वाली अनिर्वचनीया एक मूल प्रकृति है। उस अनिर्वचनीया माया में प्रतिबिम्बित साक्षी चैतन्य है। वह मूल प्रकृति जब अपनी गुण साम्यता को छोड़कर विकृति को प्राप्त होती है तो वही सत्त्वगुण से उद्रिक्त होकर अव्यक्त आवरण शक्ति हो जाती है, उस आवरण शक्ति में जो प्रतिबिम्बित है वह ईश्वर चैतन्य कहलाता है। वह ईश्वर चैतन्य स्वाधीन माया वाला है, सर्वज्ञ है, सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय इन सबका आदि कर्ता है। यह जगत् का अंकुर स्वरूप है।

उसी में सम्पूर्ण जगत् विलीन रहता है, समय पाकर पुनः जगत् का आविर्भाव हो जाता है। क्यों हो जाता है? प्राणियों

के कर्मों के कारण। जैसे सूत है जब उसका पट बन जाता है तह करके रखो फिर जब फैल जाता है तब लम्बा हो जाता है। पट में सूत्र के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है, उसी प्रकार ईश्वर के अतिरिक्त जगत् में कुछ भी नहीं है। कर्मों के भोगों के लिये जगत् होता है, जब प्राणियों के कर्म क्षय हो जाते हैं, तो यह तिरोहित हो जाता है। उस चैतन्य ईश्वर में अखिल विश्व उसी प्रकार है जैसे संकुचित कपड़े के थान में विस्तृत वस्त्र। ईश्वर अधिष्ठित जो आवरण शक्ति है, उसे रजोगुण प्रधान जो महत् तत्त्व है, वही विक्षेप शक्ति है। उससे प्रतिबिम्बित जो है वही हिरण्यगर्भ चैतन्य है। वह महत्तत्त्वाभिमानी स्पष्ट और अस्पष्ट शरीर वाला होता है। हिरण्यगर्भ अधिष्ठित विक्षेप शक्ति से तम प्रधान अहंकार शक्ति होती है। उससे प्रतिबिम्बित विराट् चैतन्य होता है। उसका जो अभिमानी है वह स्पष्ट शरीर वाला होता है। समस्त स्थूल वर्ग का पालन करने वाला विष्णु प्रधान पुरुष होता है। उसके सकाश से आकाश की उत्पत्ति होती है, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी होती है। इन पाँचों से शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श–ये पाँच तन्मात्रायें होती हैं। सृष्टि करने की कामना से जगत् योनि तमोगुण को अधिष्ठित करके सूक्ष्म जो तन्मात्रायें हैं तथा सूक्ष्मभूत हैं, इन्हें स्थूल करने की कामना करता है। सृष्टि में जो परिमित भूत हैं, उन सबको दो भागों में बाँटकर दूसरे भाग के चार भाग करके एक भाग में शेष भाग के चतुर्थांश चतुर्थांश मिलाकर पाँच प्रकार संयोजन करके सब भूतों को पंचीकृत बना देता है। जैसे पृथ्वी है। उसके दो भाग कर दिये। तो आधा भाग तो पृथ्वी का और आधे भाग में जल, तेज, वायु और आकाश के चतुर्थांश चतुर्थांश मिलाकर पृथ्वी का पंचीकरण हो गया।

जैसे ५० भाग तो पृथ्वी और साढ़े बारह-साढ़े बारह भाग जल, तेज, वायु और आकाश के सब मिलाकर पंचीकृत पृथ्वी बन गयी। ऐसे ही पाँचों भूतों का पंचीकृत बना लो। इन पंचीकृत भूतों मे ही अनन्त कोटि ब्रह्मांडों की रचनायें होती हैं। उन-उन ब्रह्मांडों के उचित ही चौदह-चौदह भुवन बन जाते है, उन भुवनों के उचित गोलक, स्थूल शरीरों को उत्पन्न करते हैं। उन पंच-भूतों में से रजोगुण के अंश को चतुर्धा करके तीन भाग से पाँच वृत्त्यात्मक प्राण को उत्पन्न करता है, अब बचा एक चौथा भाग, उसके द्वारा कर्मेन्द्रियों को बनाता है। उनमें से वह सत्वांश को भी चार भागों में बाँटता है। तीन भागों को लेकर तो वह पञ्च-क्रिया वृत्त्यात्मक अन्तःकरण को उत्पन्न करता है। अब जो एक चौथा भाग बच गया, उससे ज्ञानेन्द्रियों को और सत्त्व समष्टि इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवों–इन्द्रिय पालकों–को बनाता है। इन सबको बना बनाकर वह ब्रह्मांड में फेंकता जाता है। उसकी आज्ञा से ये सबके सब समष्टि अंड को व्याप्त करके उनमें स्थित हो जाते हैं, बैठ जाते हैं। उसकी आज्ञा से अहंकार समन्वित जो विराट् पुरुष है, वह स्थूल पदार्थों की रक्षा करता है। और उसी की आज्ञा से जो हिरण्यगर्भ पुरुष है सूक्ष्म पदार्थों की रक्षा करता है। अण्डस्थ जितने भी पदार्थ हैं उसके बिना वे सब स्पन्दन करने में, किसी भी प्रकार की चेष्टा करने में भी समर्थ नहीं हो सकते। वे सब शव के सदृश स्पन्दन हीन पड़े रहते हैं। उनको चैतन्य बनाने की वह कामना करता है। तब वह क्या करता है, कि ब्रह्मांड का जो सबसे ऊपर का भाग है जिसे ब्रह्माण्ड ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं, जो समस्त व्यष्टि का मस्तक रूप है, उस मस्तक को फोड़कर उस छेद द्वारा वह उस ब्रह्मांड के भीतर प्रवेश करता है। उसके प्रवेश करते ही ये इन्द्रियाँ तथा

अन्तःकरणादि जड़ होने पर भी चैतन्य की भाँति अपने-अपने कार्यों को करने लगते हैं। सर्वज्ञ ईश माया के लेश से समन्वित हो जाने पर इस व्यष्टि देह में प्रविष्ट होने से माया से मोहित होकर जीव संज्ञा को प्राप्त हो जाता है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों शरीरों में तादात्म्य भाव होने से अपने में कर्तृत्व भोक्तृत्व का आरोप कर लेता है। जब अपने को कर्ता भोक्ता मान बैठता है, तब जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्छा तथा मरण धर्मी मानकर इन धर्मों से युक्त होकर घड़ी के यन्त्र की भाँति सदा उद्विग्न बना रहता है मृतक की भाँति जैसे कुम्हार का चाक घूमता रहता है, उसी प्रकार वह संसार चक्र में घूमता रहता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यहाँ आकर पैङ्गल उपनिषद् का प्रथम अध्याय समाप्त होता है।"

अब द्वितीय अध्याय में पैङ्गल महर्षि महामुनि याज्ञवल्क्यजी से पूछते हैं—"भगवन्! समस्त लोकों की सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय करने वाले भगवान् विभु जीव भाव को कैसे प्राप्त हो जाते हैं?"

यह सुनकर महर्षि याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"देखो, स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीन प्रकार के शरीर होते हैं। इन तीनों के उद्भव पूर्वक जो जीव और ईश्वर का स्वरूप है उसकी विवेचना करके मैं तुमसे इस विषय को कहता हूँ। बड़ी सावधानी के साथ एकाग्रचित्त होकर इस विषय को श्रवण करो। ईश्वर पंचीकृत जो महाभूत हैं, उनमें से लेशमात्र लेकर व्यष्टि और समष्ट्यात्मक स्थूल शरीर को यथाक्रम बनाते हैं। कैसे बनाते हैं? किस-किस भूत से कौन-कौन-सी वस्तुएँ बनती हैं? इसे बताते हुए कहते हैं—"कपाल, चर्म, आँतें, हड्डियाँ, माँस और नख ये ने

पृथ्वी के अंश हैं। रक्त, मूत्र, लार, पसीना आदि जल के अंश हैं। क्षुधा, तृष्णा, उष्णता, मोह तथा मैथुनादि अग्नि के अंश हैं। चलना, उठाना, श्वास, प्रश्वासादि वायु के अंश हैं। काम तथा क्रोधादि ये आकाश के अंश हैं। इन सबका संघात मिश्रण-होकर तथा संचित कर्मों द्वारा यह त्वचा आदि धातुओं से युक्त, बाल्य, युवा तथा वृद्धादि अवस्थाओं के अभिमान से युक्त, बहुत से दोषों का आश्रय यह स्थूल शरीर बनता है। अपंचीकृत जो महाभूत हैं, उनमें से रजोगुण के तीन भाग समष्टित द्वारा प्राण बनते हैं। ये प्राण पाँच प्रकार के होते हैं। उनके नाम प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान हैं। पाँच ही उप प्राण हैं, उनके नाम नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त, और धनंजय हैं। इन प्राणों के स्थान हृदय, आसन, नाभि, कंठ तथा सर्वाङ्ग हैं।

आकाशादि रजोगुण के तुरीय चौथे भाग से कर्मेन्द्रियों को उत्पन्न करता है, वे कर्मेन्द्रियाँ-वाणी, हाथ, पैर, गुदा और लिंग ये हैं। बोलना, उठाना, धरना, चलना, मल विसर्जित करना तथा संगम सुखानुभूति ये इन पाँचों कर्मेन्द्रियों के क्रमशः विषय हैं।

इस प्रकार अपंचीकृत सत्वांश के त्रय भाग समष्टित द्वारा अन्तःकरण को उत्पन्न करता है। वह अन्तःकरण मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार चार प्रकार का होता है। इन चारों के क्रमशः संकल्प, निश्चय, स्मरण तथा अभिमान अनुसंधान ये चार विषय हैं। इन चारों के गला, मुख, नाभि, हृदय और भ्रूमध्य ये रहने के स्थान हैं। अब अपंचीकृत भूतों के सत्त्व के चतुर्थ भाग द्वारा ज्ञानेन्द्रियों की रचना की। वे पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ श्रोत, त्वचा, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राण ये हैं। इन पाँचों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच विषय हैं। पाँच ज्ञान इन्द्रिय,

पाँच कर्मेन्द्रिय तथा अन्तःकरण इन सबके क्रमशः (१) दिशा, (२) वायु, (३) सूर्य, (४) प्रचेता, (५) अश्विनीकुमार, (६) इन्द्र, (७) अग्नि, (८) उपेन्द्र, (९) मृत्यु (१०) चन्द्रमा, (११) विष्णु, (१२) चतुर्मुख ब्रह्मा, और (१३) शम्भु ये इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देव हैं।

इस शरीर में (१) अन्नमय, (२) प्राणमय, (३) मनोमय, (४) विज्ञानमय और (५) आनन्दमय ये पाँच कोश हैं। जो अन्न रस द्वारा होकर, अन्न रस द्वारा वृद्धि को प्राप्त होकर अन्न रस मय पृथ्वी में विलीन हो जाता है वह अन्नमय कोश कहलाता है। उसी को स्थूल शरीर भी कहते हैं। कर्मेन्द्रियों के साथ जो पंच प्राण हैं वे ही प्राणमय कोश हैं। ज्ञानेन्द्रियों के साथ जो मन है वही मनोमय कोश है। ज्ञान इन्द्रियों सहित जो बुद्धि है वही विज्ञानमय कोश है। प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय ये तीनों कोश लिंग शरीर कहलाते हैं। स्वरूपा ज्ञान आनन्दमय कोश है यही कारण शरीर कहलाता है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पंच प्राण, पाँच विषय, चार अन्तःकरण, काम, कर्म, और तम ये आठ पुर हैं।

ईश की आज्ञा से विराट् जो है वह व्यष्टि देह में प्रवेश करके बुद्धि को अधिष्ठित करके विश्व बन जाता है। विज्ञानात्मा जो चिदाभास है वह विश्व व्यावहारिक जागृत अवस्था का तथा स्थूल देह का अभिमानी होता है। इसीलिये इस विश्व का नाम कर्म भू होता है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय चार अवस्थायें हैं, विश्व, तैजस्, प्राज्ञ और तुरीय ये इनके अधिष्ठातृ देव हैं। स्थूल, सूक्ष्म, कारण ये शरीर भेद हैं। विश्व के सम्बन्ध में कहकर अब तैजस के सम्बन्ध में बताते हैं।

ईश की आज्ञा से जो सूत्रात्मा है वह व्यष्टि सूक्ष्म शरीर

मे प्रवेश करके मन को अधिष्ठित करके तैजसपने को प्राप्त हो जाता है। तैजस जो है वह प्रातिभासिक है, स्वप्न कल्पित है इसी लिये इसका नाम तैजस है। तैजस को बताकर अब प्राज्ञ को बताते हैं—

ईश की आज्ञा से जो मायोपाधिक, अव्यक्त समन्वित है वह व्यष्टि कारण शरीर में प्रवेश करके प्राज्ञत्व को प्राप्त होता है। प्राज्ञ जो है वह अविछिन्न पारमार्थिक है और सुषुप्ति अवस्था का अभिमानी है इसीलिये इसका नाम प्राज्ञ है।

अव्यक्त लेश अज्ञान से आच्छादित जो पारमार्थिक जीव है, उस जीव की 'तत्त्वमसि' आदि जो महावाक्य हैं उनके द्वारा ब्रह्म के साथ एकता प्राप्त होती है। दूसरे व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक शब्दों द्वारा एकता सिद्ध नहीं होती। अन्तःकरण प्रतिबिम्बित जो चैतन्य है वही जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं को भोगने का अधिकारी होता है। वहां अन्तःकरण प्रतिबिम्बित चैतन्य जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन अवस्थाओं में प्राप्त होकर, जैसे घड़ी का यन्त्र सदा उद्विग्न रहता है, उसी प्रकार वह सदा उद्विग्न बना रहता है। उसकी सुषुप्ति अवस्था में मृतक की भाँति स्थिति हो जाती है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्छा और मरण ये जीव की पाँच अवस्थायें होती हैं। ये अवस्थायें उन-उन के अधिष्ठातृ देवताओं से युक्त होती हैं। जाग्रत अवस्था किसे कहते हैं?

जब श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियाँ शब्द, रूप रसादि विषयों के ग्रहण करने के ज्ञान में समर्थ होती हैं उस अवस्था का नाम जाग्रत अवस्था है। उस समय दोनों भौहों के मध्य में जीव रह कर पैर से मस्तक तक व्याप्त होकर खेती श्रवण दर्शनादि समस्त क्रियाओं का कर्ता होता है और उन-उन क्रियाओं के फलों का

भोक्ता भी होता है। लोकान्तरगत जो कर्मार्जित फल हैं उनका भी भोक्ता वही है। यह तो जाग्रत अवस्था के सम्बन्ध में हुआ। अब आप स्वप्नावस्था के सम्बन्ध में श्रवण कीजिये।

वह जीवात्मा सार्वभौम राजा की भाँति जब व्यवहार से श्रान्त होकर भीतर महल में-अन्तःपुर में-विश्राम के निमित्त प्रवेश करता है। उस समय उसको समस्त इन्द्रियाँ उपराम को प्राप्त हो जाती हैं। उस समय जाग्रत अवस्था के जो संस्कार हैं उन्हीं के अनुसार ऐसे व्यवहारों को देखता करता है। जैसे वह प्रबोध अवस्था में करता था, देखता सुनता था, सुप्त और जाग्रत की मध्यावस्था में जो जाग्रतवत ग्राह्य ग्राहकरूप कर्मों का स्फुरण होता है उसी का नाम स्वप्नावस्था है। उस अवस्था में विश्व ही जाग्रत अवस्था के लोप होने से नाड़ी के मध्य में विचरण करके तैजसत्व को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् जो जाग्रत अवस्था का अभिमानी विश्व ही स्वप्नावस्था प्राप्त होने पर उसके अभिमानी रूप में तैजस नाम वाला होकर जगत की अनेक प्रकार की घटनाओं को जाग्रत की भाँति देखता हुआ यथेप्सित भावों को स्वयं ही भोग करता है।' इस प्रकार जाग्रत और स्वप्नावस्था के विषय में कहकर अब सुषुप्ति अवस्था के सम्बन्ध में बताते हैं। सुषुप्ति किसे कहते हैं?

चित्त की जो एकतानता है, वही सुषुप्ति अवस्था कहलाती है। जैसे उड़ते-उड़ते पक्षी श्रमित होकर अपने नीड़-घोंसले में विश्राम करने को पंखों को समेटकर अपने कोटर में-घोंसले में-घुसकर बैठ जाता है, वैसे ही जीवात्मा जाग्रत अवस्था तथा स्वप्नावस्था के प्रपञ्चों से थककर अज्ञान में प्रवेश करके स्वानन्द का उपभोग करता है वही सुषुप्ति अवस्था होती है।

स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं को बताकर मूर्छा अवस्था के सम्बन्ध में बताते हैं— ..

अकस्मात् किसी ने मुद्गरों से डण्डों से मार-मारकर उसे आहत कर दिया। उस समय ताड़ना से, भय तथा अज्ञान से जो इन्द्रियाँ शिथिल होजाती हैं काँपने लगती हैं मृतक तुल्य अवस्था हो जाती है उसी का नाम मूर्छा है। पेड़ आदि ऊँचे स्थान से गिरने से भी मूर्छा होती है, मूर्छा एक रोग भी है, उस समय प्राणी मृतकवत् अचेतन हो जाता है। अब मूर्छा अवस्था को बताकर मरण अवस्था के सम्बन्ध मे बताते हैं। मरणावस्था किसे कहते हैं ?

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और मूर्छा इन चारों अवस्थाओं के अतिरिक्त, ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त सभी जीवों को भय पहुँचाने वाली स्थूल देह को विसर्जित करा देने वाली अवस्था का ही नाम मरणावस्था है। उस समय कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों को तथा इन इनके विषयों को प्राण साथ लेकर काम कर्मों से समन्वित होकर अविद्याभूत से लिपटा हुआ जीव देहान्तर को प्राप्त होकर अन्य-अन्य लोकों को चला जाता है। पहिले जन्मों में किये हुए कर्मों के फल पाक के कारण जैसे नदी के आवर्त में पड़ा हुआ कीड़ा इधर से उधर भ्रमण करता रहता है, उसी प्रकार जीव कर्मानुसार नाना योनियों में आता जाता रहता है। उसे विश्रान्ति नहीं मिलती। जब सभी कर्मों का नाना योनियों में भोगते-भोगते परिपाक हो जाता है, तो सत् कर्मों के परिपाक से बहुत जन्मों के पश्चात् यह मनुष्य योनि प्राप्त होती है। तब इस मनुष्य योनि में जीव को मोक्ष की इच्छा उत्पन्न होती है। जब मोक्ष की इच्छा हृदय में उत्पन्न होती है तो जीव सत् गुरु का आश्रय लेता है। जब चिरकाल तक गुरु सेवा करता है तो

कोई कोई इस संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है। अविचार से ही बन्धन होता है और विचार से मुक्ति होती है। इसीलिये सदा सर्वदा विचार करते रहना चाहिये। अध्यारोप और अपवाद द्वारा स्वरूप का निश्चय करने में समर्थ हो सकता है। इसीलिये सदा सर्वदा विचार करते रहना चाहिये, कि यह जगत क्या है? जीवात्मा क्या है? परमात्मा क्या है? जीव भाव ही जगत-भाव है। जीव भाव जगद् भाव को बाधित करके प्रत्यक् अभिन्न केवल ब्रह्मभाव ही अवशेष रह जाता है। अर्थात जीव का और जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध होने पर एकमात्र ब्रह्म ही ब्रह्म अवशिष्ट रहता है। इसीलिये सदा महावाक्यों का ही अनुसन्धान करते रहना चाहिये।" यहाँ आकर पैङ्गल उपनिषद् का द्वितीय अध्याय समाप्त हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"यहाँ तक देह के स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण तीनों रूपों का, तीनों अवस्थाओं और उनके अधिष्ठातृ देवों का वर्णन हुआ। अब आगे जिस प्रकार तीसरे अध्याय में महावाक्यों का विवरण बताया जायगा, उस विषय को मैं आगे कहूँगा। आशा है आप इस विषय को दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

जीव भाव कस भयो जगत उत्पत्ति बताई।
पंचभूत तैं व्यष्टि समष्टिहु सृष्टि जताई॥
जीव कहाँ कस रहै अवस्था तीनि देव तिनि।
दश इन्द्रिय अरु प्रान करन अन्तः करनहु जिनि॥
काम सहित सब आठ पुर, सोवे जीवहु पुरुष ज्यों।
जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अरु, मूर्छा मरनहु पन त्यों॥

—०—

६२–पैङ्गल-उपनिषद्-सार (२)

[३३०]

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्
तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवम्
तदेव शिष्यत्यमलं निरामयम् ॥*

(पैं० उ० ३ अ० ४ म०)

छप्पय

याज्ञवल्क्य ने महा वाक्य विवरण बतलायो ।
तत्-त्वं असि इन वाक्य खोलि पुनि पुनि समुझायो ॥
श्रवन मनन करि निदिध्यासकी युक्ति बताई ।
कैसे लगे समाधि वृत्ति चित की समुझाई ॥
जीवन्मुक्त स्वरूपकूँ, खोलि खोलि के सब कह्यो ।
त्यागि देह विषयनि रहित, पद कैवल्यहु सो लह्यो ॥

अभ्यास के द्वारा जिसकी अहंता ममता नष्ट हो गयी है। जिसे यह प्रत्यक्ष अनुभव हो गया है, कि देह से आत्मा सर्वथा

---

* जीवन्मुक्त शरीर त्यागकर जब विदेह मुक्त हो जाता है तब वहाँ अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, अगन्ध, नित्य, अनादि, अनन्त, महान् परमध्रुव अमल तथा निरामय ब्रह्म ही ब्रह्म अवशेष रह जाता है।

पृथक् है। मैं देह नहीं, इन्द्रिय नहीं, अन्तःकरण नहीं। मैं इन सबका स्वामी आत्म स्वरूप हूँ। मैं जीव नहीं ब्रह्म ही हूँ। मैं माया से अतीत शुद्ध, बुद्ध, नित्य, सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा हूँ, तब वह संसार के सभी शोक, मोह, राग द्वेषादि विकारों से सदा सदा के लिये छूट जाता है। जब तक द्वैत है तब तक बन्धन है, जहाँ द्वैत भाव समाप्त हुआ वहाँ कैवल्य ही कैवल्य रह जाता है। यह सब होता है, निरन्तर महावाक्यों के चिन्तन मनन तथा निदिध्यास से। उसी विषय को आगे बताते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पैङ्गल उपनिषद् के तृतीय अध्याय में भगवान् याज्ञवल्क्यजी से पैङ्गल मुनि ने कहा—"भगवन्! अब आप हमसे महावाक्य के विवरण का कथन करें।"

पैङ्गल मुनि का परम पावन प्रश्न सुनकर महर्षि याज्ञवल्क्य कहने लगे 'तत्त्वमसि' यह महा वाक्य है। इसका अन्वय यों करो त्वं-तद्-असि। इसमें तीन पद हैं। त्वं-तद् और असि। अर्थात् तुम ब्रह्म हो। इसी भाव का दूसरा महावाक्य है 'अहं ब्रह्मास्मि' इनका अनुसन्धान करना चाहिये। पारोक्ष्य शबल जो सर्वज्ञादि लक्षणों से युक्त मायोपाधिक सच्चिदानन्द लक्षण जगत्योनि है वह 'तत्' पदवाच्य है। अर्थात् पद से मायोपाधिक सच्चिदानन्द ब्रह्म का ही ग्रहण है। यह तो 'तत्' पद का वाच्यार्थ हुआ। अब 'त्वम्' का अर्थ सुनो। वह मायोपाधिक ब्रह्म ही अन्तः-करण से संभिन्न बोध अस्मत् प्रत्यय का अवलम्बन करके 'त्वम्' पद वाच्य होता है। परजीवोपाधि जो माया तथा-अविद्या हैं उन्हें छोड़कर तत्वं पद का जो लक्ष्य है, वही प्रत्यक अभिन्न ब्रह्म है। यह तो 'तत्त्वमसि' का अर्थ हुआ।

अब 'अहं ब्रह्मास्मि' इस महा वाक्य के अर्थ पर विचार करने

को श्रवण कहते हैं। श्रवण किये हुए उपदेश का एकान्त में बैठकर जो अनुसंधान किया जाता है उसका नाम मनन है। जैसे गुरु ने उपदेश दिया–वह ब्रह्म तुम ही हो। तो इसे सुनकर एकान्त में बैठकर अनुसंधान करे कि गुरु ने मुझे ही ब्रह्म बताया है। इस प्रकार की ऊहापोह का नाम मनन है। तथा श्रवण, मनन की निःशेष भाव से विचिकित्सा करके वस्तु की एकतानता करके उसे चित्त में स्थापना करने का नाम निदिध्यासन है।

ध्याता और ध्यान को छोड़कर जैसे वायु रहित स्थान में स्थित दीपक की भाँति ध्येय में एक गोचर हुई जो चित्त की वृत्ति है उसी का नाम समाधि है। उस समय आत्मगोचर जो समुत्थित वृत्तियाँ हैं वे सब अज्ञात हो जाती हैं। अर्थात् समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है। ये सब स्मरण से ही अनुमान की जाती हैं। यह जो अनादि संसार में संचित कर्म कोटि हैं, समाधि से वे सबकी सब विलय को प्राप्त हो जाती हैं। इस प्रकार निरन्तर के अभ्यास पाटव से सदा सर्वदा सैकड़ों अमृत धारायें वर्षती रहती हैं। इसलिये योग के जानने वाले योगाचार्य समाधि को धर्म मेघ कहते हैं। वासना जाल में निःशेष हुआ इस समाधि के द्वारा प्रविलापित जो कर्म संचय हैं उनमें से उत्पन्न हुए जो पाप तथा पुण्य हैं, वे सबके सब समूल नष्ट हो जाते हैं। पाप पुण्यों के समूल उन्मीलित हो जाने पर प्राक् तथा परोक्ष को भी जैसे हाथ पर रखे हुए आँवले को देखता है, वैसे उसे निदिध्यास के द्वारा अपरोक्ष सक्षात्कार हो जाता है तब वह निश्चय कर लेता है मैं ही ब्रह्म हूँ, ऐसा निश्चय हो जाने पर वह इस शरीर में जीवित रहते हुए भी मुक्त हो जाता है। उसे ही जीवन्मुक्त कहते हैं।

वह जो ईश है जब उसकी इच्छा होती है, कि इन पञ्चीकृत

भूतों को अपञ्चीकृत कर दें। अर्थात् इस विश्व ब्रह्माण्ड की प्रलय कर दें, तब वह ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत जितने लोक हैं उनके कार्य रूपों को कारण में लीन करके जो सूक्ष्माङ्ग कर्मेन्द्रियाँ और प्राण हैं, तथा ज्ञानेन्द्रियाँ और अन्तःकरण चतुष्टय हैं इन सबको एक में मिलाकर गड्ड-मड्ड करके-सम्पूर्ण भौतिक जो कारण हैं उनमें पञ्चभूतों को संयुज्य करके कार्य को कारण में मिलाते जाते हैं। जैसे पृथ्वी को जल में, जल को अग्नि में, अग्नि को वायु में, वायु को आकाश में, आकाश को अहंकार में, अहंकार को महतत्त्व में, महतत्त्व को अव्यक्त प्रकृति में, और अव्यक्त प्रकृति को पुरुष में, क्रम-क्रम से लीन करते जाते हैं। विराट् पुरुष, हिरण्यगर्भ और ईश्वर ये जो मायोपाधिक ब्रह्म हैं इनकी उपाधि जब विलय को प्राप्त हो जाती है, तो ये तीनों परमात्मा में लीन हो जाते हैं। सो हुआ क्या? कि जो पञ्चीकृत महाभूत हैं, उनसे उत्पन्न जो कर्म संचित स्थूल देह है, वह स्थूल-देह कर्मों के क्षय हो जाने से, सत्कर्मों के परिपाक से, अपञ्ची कृत जो भूत हैं उनमें प्राप्त होकर सूक्ष्म में एकीभूत होकर, कारण रूप को प्राप्त हो जाते हैं। अर्थात् कार्य रूप जो पञ्चीकृत निर्मित स्थूल देह है वह अपने कारण अपञ्चीकृत भूतों में मिल जाता है। कार्य कारण में जाकर एक हो जाता है। वह कारण जाकर कूटस्थ जो प्रत्यगात्मा ब्रह्म है उसमें विलीन हो जाता है। फिर जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति के जो विश्व, तैजस और प्राज्ञ अधिष्ठातृदेव हैं। ये अपनी-अपनी उपाधि में लीन होकर प्रत्यगात्मा ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। यह जो ब्रह्माण्ड है, वह ज्ञान रूपी अग्नि से भस्म होकर-जलकर अपने कारणों के सहित परमात्मा में लीन जाता है।

इसीलिये महाज्ञानी ब्राह्मण को चाहिये कि वह समाहित चित्त होकर तत्त्वपद को सदा एकता में करता रहे। अर्थात् 'तत्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इन महावाक्यों का श्रवण मनन निदिध्यासन निरन्तर करता रहे। इससे होगा क्या ? उस अपार्थ मेघ द्वारा-अर्थात् समाधि द्वारा-सूर्य की भाँति आत्मा का प्रादुर्भाव होगा।

समाधि अवस्था में मध्यस्थ जो आत्मा है, कैसा आत्मा है ? जैसे निर्वात स्थान में-कलश के भीतर-रखा हुआ दीपक है। उस दीपक की निश्चल ज्योति के सदृश-अंगुष्ठ मात्र निर्धूम ज्योति स्वरूप जो आत्मा है उसी का ध्यान करना चाहिये। वह परम ज्योति अन्तःकरण को प्रकाशित कर देगी, इसलिये उस कूटस्थ अव्यय आत्मा का ही ध्यान करना चाहिये। इसलिये मुनि को चाहिये कि जब तक सो न जांय और जब तक मर न जाय, तब तक निरन्तर उसी का ध्यान करता रहे। जो इस प्रकार निरन्तर सतत उस आत्मा का ही ध्यान करता रहता है वही जीवन्मुक्त है, वही धन्य है और वही कृत कृत्य है। जीवन्मुक्त पद को त्यागकर अर्थात् जब यह शरीर काल कवलित हो जाय, तब शरीर के अन्त हो जाने के पश्चात् तो वह अदेही मुक्तत्व को प्राप्त हो जाता है, जैसे वायु अन्त में अस्पन्दता-स्थिरता में प्राप्त हो जाती है। तब वहाँ शब्द, स्पर्श, रूप, व्यय, रस, गन्ध आदि से रहित, नित्य अनादि अनन्त, महान्, परं ध्रुव वह एकमात्र निरामय ब्रह्म ही बच अवशेष रह जाता है। यहाँ आकर पैङ्गल उपनिषद् का तीसरा अध्याय समाप्त हो जाता है।

अब चौथे अध्याय में पैङ्गल मुनि महर्षि याज्ञवल्क्यजी से पूछ रहे हैं—"ज्ञानी पुरुष क्या कर्म करता है ? उसकी स्थिति कैसी होती है ?"

इस पर महर्षि याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"पैङ्गल ! सुनो, मुमुक्षु अमानित्व आदि सद्गुणों से सम्पन्न होकर अपने कुल की इक्कीस पीढ़ियों को तार देता है। यदि वही मुमुक्षु जब ब्रह्म-निष्ठ-ब्रह्मवित–हो जाता है तो एक सौ एक कुलों को तार देता है।"

तुम आत्मा को रथ में बैठने वाला रथी समझो, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथी, मन को घोड़ों की रस्सी मानों। उस शरीर रूपी रथ के घोड़े इन्द्रियाँ हैं, विषय उस रथ के घोड़ों के चलने के स्थान हैं,मनीषियों ने जंगम विमान हृदय को कहा है। शरीर, इन्द्रियें और मन सबके साथ रहने वाला जीवात्मा ही भोक्ता है। इसलिये साक्षात् नारायण ही हृदय में सुप्रतिष्ठित हैं। ज्ञानी पुरुष जीवन्मुक्त होने पर भी जैसे साँप केंचुली को त्यागकर निर्मुक्त हो जाता है वैसे ही जब तक प्रारब्ध कर्म शेष हैं, उन्हें अभिमान शून्य होकर भोगता रहता है। जब प्रारब्ध कर्म समाप्त हो जाते हैं तो इस शरीर को त्यागकर विदेह मुक्त हो जाता है। जीवन्मुक्त देही चन्द्रमा की भाँति अनिकेतन होकर विचरता रहता है। चाहें तीर्थ स्थान में वह शरीर का त्याग करे अथवा श्वपच के घर में परित्याग करे।

जहाँ भी वह शरीर त्यागता है वहीं विज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुष कैवल्य को प्राप्त होता है। प्राणों के छोड़ते ही वह विदेह मुक्त हो जाता है। मरने के अनन्तर उसके शरीर को चाहें दिशाओं में बलि कर दो अथवा गड्ढा खोदकर गाड़ दो। उसके लिये कोई विधि निषेध नहीं रह जाती। जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष के मरने पर न तो अशौच लगता है, न अग्नि में जलाने के अनन्तर जो कार्य किये जाते हैं उनकी आवश्यकता ही है। उसके लिये पिंडदान-जल तर्पण की भी आवश्यकता नहीं। जो संन्यासी ब्रह्मभूत है

उसका पर्वणादि श्राद्ध भी नहीं करना चाहिये। जो पहिले जला हुआ है, उसका फिर से क्या जलाना, जो पहिले से ही पका हुआ है उसे फिर से पकाने की क्या आवश्यकता। इसी प्रकार जिसका देह ज्ञान रूपी अग्नि से पहिले ही जल चुका है उसकी अन्तेष्टि क्रिया तथा श्राद्धादि करने की आवश्यकता नहीं। जब तक उपाधि है, तब तक गुरु सुश्रूषा करनी चाहिये। गुरु की ही भाँति गुरु की पत्नी की सेवा करनी चाहिये। उनके पुत्रों के साथ भी वैसा ही वर्ताव करना चाहिये।

जब मन विशुद्ध बन जाय, शुद्ध चित्रूप का ज्ञान हो जाय, सहिष्णुता आ जाय, 'सोऽहम् अस्मि' वह ब्रह्म मैं ही हूँ ऐसी सहिष्णुता प्राप्त हो जाय, ज्ञान विज्ञान के द्वारा ज्ञेय जो परमात्म तत्त्व है उसके हृदय संस्थापित होने पर देह में शान्तिपद प्राप्त हो जाय उस समय प्रभा मन बुद्धि से शून्य हो जाती है। अर्थात् वह भली-भाँति परितृप्त सन्तुष्ट हो जाता है। जो अमृत द्वारा परितृप्त हो चुका है उसे जल की क्या आवश्यकता है? उसे पानी से क्या प्रयोजन है? इसी प्रकार जिसने आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया है उसे वेद मूलक कर्मकाण्ड की क्या आवश्यकता है?"

जो योगी ज्ञानरूपी अमृत से परितृप्त हैं उनके लिये कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहता। जो समझता है मुझको कुछ कर्तव्य शेष है, तो समझो वह तत्त्ववेत्ता है ही नहीं। वह सर्वव्यापी प्रत्यक् आत्मा ब्रह्म दूरस्थ होने पर भी दूरस्थ नहीं है। वह पिण्डवर्जित होने पर भी पिंड में स्थित रहता है। क्योंकि वह सर्वत्र व्याप्त रहने वाला है।

हृदय को मल रहित-निर्मल-करके उस अनामय परब्रह्म का चिन्तन करना चाहिये। मैं ही परं हूँ, मैं ही सर्वमय हूँ, जो इस

प्रकार देखता है उसे परम सुख की प्राप्ति होती है। जैसे जल में जल फेंक दो, दूध में दूध डाल दो, घृत में घृत उड़ेल दो। तो दोनों मिलकर एक हो जाते हैं, इसी प्रकार जीवात्मा परमात्मा दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। देह ज्ञान रूप अग्नि द्वारा दीपित हो जाने पर, बुद्धि की वृत्ति जब अखण्डाकार रूपा हो जाती है उस समय विद्वान् ब्रह्म ज्ञान रूपा जो अग्नि है, उसमें कर्म बन्धों को जला देता है। इससे होता क्या है? विमल स्वच्छ-वस्त्र की भाँति जिसकी आभा है ऐसे परम पवित्र अद्वैत रूप परमात्मा परमेश्वर को प्राप्त होता है।

जल जल में प्रविष्ट होकर उसी के रूप का होकर निरुपाधिक बन जाता है, वैसे ही जीवात्मा परमात्मा में मिलकर निरुपाधिक हो जाता है। आकाश की भाँति सूक्ष्म शरीर आत्मा दिखायी नहीं देता। उसी प्रकार वायु की तरह भी अन्तरात्मा दीखता नहीं। वह बाहर और भीतर निश्चल आत्मा विद्यमान है। ज्ञानरूपी विद्युत् के प्रकाश द्वारा वह अन्तरात्मा दृष्टिगोचर होता है। ज्ञानी जहाँ कहीं भी मरे, कैसी भी किसी प्रकार की मृत्यु से क्यों न मरे, वह आत्मा में उसी प्रकार लीन हो जायगा, जैसे घटाकाश सर्वगत महाकाश में लीन होता है। जैसे घट का आकाश महाकाश में मिल जाता है वैसे ही तत्त्व को जानने वाला तत्त्ववेत्ता भी तत्वतः आत्मा को परमात्मा में लीन हुआ जानता है वह ज्ञानी निरालम्ब ज्ञानालोक को चारों ओर से देखता है।

देखो, मनुष्य चाहें सहस्रों वर्षों तक एक पैर से खड़े होकर तपस्या करता रहे, किन्तु यह जो हमने ध्यान योग बताया, उसकी वह तपस्वी सोलहवीं कला को भी प्राप्त नहीं कर सकता। यह ज्ञान है, यह ज्ञेय है, इस प्रकार की चर्चा ही से जो उसे

जान लेना चाहता है। ऐसे तुम चाहें सहस्रों वर्षों की आयु तक चर्चा करते रहो शास्त्रों का अन्त नहीं पा सकते, क्योंकि शास्त्र अनन्त हैं। अजी, तुम अक्षर तन्मात्र जो ब्रह्म है उसी को विशेष रूप से शीघ्रातिशीघ्र जान लो, क्योंकि यह जीवन क्षण-भंगुर है, चंचल है। इसलिये तुम शास्त्रों के जाल को छोड़कर जो सत्य पदार्थ है, उसी की उपासना करो।

अनन्त कर्म हैं, शौच के प्रकार भी अनन्त हैं। जप, यज्ञ, तीर्थ-यात्रा में गमन ये सब पुण्यकर्म तभी तक करने चाहिये जब तक परमतत्त्व का ज्ञान न हो, महात्माओं ने मोक्ष का कारण "अहं ब्रह्मास्मि" ये महावाक्य ही बताये हैं। बन्धन के और मोक्ष के महात्माओं ने दो ही पद बताये हैं। न मम और मम ये ही दो पद हैं। मेरा यह कुछ नहीं है यह मोक्ष देने वाला पद है। यह भी मेरा है यह भी मेरा है, यह बन्ध करने वाला पद है। यह मेरा है कहने से जन्तु बँध जाता है। यह मेरा कुछ नहीं है ऐसा मानने वाला मुक्त हो जाता है। मन से यदि उन्मनी भाव हो जाय, तो फिर द्वैत की उपलब्धि ही नहीं होती है। जब मन का उन्मनी भाव हो जाता है, तब परमपद की प्राप्ति हो ही जाती है। उस समय जहाँ जहाँ मन जाता है वहाँ वहाँ ही सर्वत्र ही परम पद अवस्थित होता है। ऐसा ज्ञानी मुष्टियों से आकाश को ताडन कर सकता है। क्षुधा से तृषा को खंडित कर सकता है। जिस प्रकार अहंब्रह्म को भली-भाँति जानकर मुक्त हो जाता है उसी प्रकार जो यह जानता है, कि मैं ब्रह्म नहीं हूँ उसकी मुक्ति हो ही नहीं सकती।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार ज्ञानी के कर्म, स्थिति तथा लक्षण बताकर अब इस उपनिषद् का माहात्म्य बताते हैं। जो इस उपनिषद् का नित्य अध्ययन करता है, वह

वायु पूत, आदित्यपूत, ब्रह्मपूत, विष्णुपूत तथा रुद्रपूत होता है। जिसने इस उपनिषद् को भली-भाँति जान लिया, उसने मानों सभी पुण्य तीर्थों में स्नान कर लिया, उसने मानों समस्त वेदों का अध्ययन कर लिया, उसने समस्त विधि की चर्या का आचरण कर लिया, उसने इतिहास, पुराणों को पढ़ लिया, रुद्र मन्त्रों के लाखों करोड़ों जप का फल प्राप्त कर लिया, प्रणव के दश लक्ष जप का फल प्राप्त कर लिया। उसने अपनी दश पिछली दश अगली पीढ़ियों को पवित्र कर लिया। वह पंक्ति को पवित्र करने वाला पंक्ति पावन हो जाता है। वह महान् हो जाता है। ब्रह्म-हत्या, सुरापान, सुवर्ण चोरी, गुरुपत्नीगमन और इन पापियों का संसर्ग ये पाँच महापातक माने जाते हैं, वह इन महापातकों से भी पावन बन जाता है। यही विष्णु का परमपद है, सूरि लोग ही इस पद को सदा देखते हैं, यही विष्णु का परम पद पद है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार यह पैङ्गल उप-निषद् समाप्त हुई। अब आप भिक्षुक उपनिषद् का सार श्रवण करें।"

छप्पय

ज्ञानिनि के पुनि करम अवस्था तिनिकी भाखी।
ज्ञानीकूँ न अशौच श्राद्ध तरपन विधि राखी॥
ज्ञान होत ही जीव ब्रह्म में यों मिलि जावै।
ज्यों जल जल में दूध दूध घृत घृत हि मिलावै॥
जीवात्मा परमातमा, मिलि के होवैं एक हू।
होइ कृतारथ जीव तब, भेद रहै नहिं नेकहू॥

इति पैंगल-उपनिषद्-सार समाप्त

(८३) भिक्षुक-उपनिषद्-सार

[३३१]

न तेषां धर्माधर्मौ लाभालाभौ शुद्धाशुद्धौ द्वैत-वर्जिताः समलोष्टाश्मकाञ्चनाः सर्ववर्णेषु भैक्षाचरणं कृत्वा सर्वत्रात्मैवेति पश्यन्ति ॥*

(भि० उ०)

छप्पय

संन्यासिनि के चार भेद भिक्षुक उपनिष महँ ।
कुटिचक, बहुदक, हंस परमहंसहु यतिवर तहँ ॥
याज्ञवल्क्य, भरद्वाज, वसिष्ठहु गौतम ज्ञानी ।
भिक्षु कुटीचक्र कहे अष्टमासी निरमानी ॥
शिखा सूत्र बहुदक रखें, तीनि दंड, कर कमंडल ।
आठ मास मधु मांस तजि, बसैं प्रपंचहु तजि सकल ॥

जितने भी विधि निषेधपरक वचन हैं, जितने भी कर्म तथा उनके फल हैं, ये सब के सब अज्ञान में ही हैं। अज्ञान में भी

---

* उन परमहंस सन्यासियों के लिये धर्म—अधर्म, लाभ—अलाभ, शुद्ध—अशुद्ध का भेदभाव नहीं, वे द्वैत वर्जित मिट्टी का ढेला, पत्थर और सुवर्ण को समभाव से देखने वाले, सभी वर्ण वालों के यहाँ से भिक्षा करने वाले, सब स्थानों में आत्मा ही है, इस प्रकार समभाव से देखने वाले होते हैं।"

जगत् का अस्तित्व है। ज्ञान हो जाने पर परलोकों का विभाग नहीं रहता, वेदों के वचनों का बन्धन नहीं रहता, देवता देवताओं के पुर नहीं रहते। यज्ञों का विस्तार कर्म काण्ड नहीं रह जाता। वर्णाश्रम के जो धर्म हैं, वे ज्ञानी पर लागू नहीं रहते। ज्ञानी की न जाति रहती है और न उसका गोत्र ही रह जाता है। धूम्र मार्ग, अर्चिमार्ग का भेद भाव भी उसके लिये लागू नहीं। उसके लिये शास्त्रों को विधियों का तथा निषेधों का भी बधन नहीं रहता। क्योंकि वह ब्रह्म भाव को प्राप्त हो चुका है। उसके लिये एक, अद्वय ब्रह्मतत्त्व ही अवशिष्ट रह जाता है, वह सभी प्रकार के द्वैत प्रपञ्चों से निर्मुक्त हो जाता है। ऐसे ब्रह्मवेत्ताओं के दर्शन दुर्लभ होते हैं। उनके दर्शनों से ही जीव कृतार्थ हो जाते हैं, ऐसे ज्ञानी विज्ञानी ब्रह्मवेत्ताओं की सेवा का सुयोग जिन सुकृतियों को प्राप्त हो जाता है, उनके सौभाग्य के सम्बन्ध में कहना ही क्या है, ऐसे लोग बिना ही श्रम साधन के संसार सागर से पार हो जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब मैं आपको भिक्षु-उपनिषद् का सार सुनाता हूँ। भिक्षु उपनिषद् बहुत ही छोटी-सी गद्यात्मक उपनिषद् है। इसमें संन्यासियों के भेद उनके कर्तव्य तथा उनकी स्थिति का वर्णन किया गया है। पूर्णमदः इत्यादि इसका शान्ति पाठ है।"

सर्वप्रथम इसमें मोक्षार्थी संन्यासियों के भेद बताते हुए कहा है, कि कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस ये चार प्रकार के भिक्षु-संन्यासी–होते हैं। इनमें गौतम, भरद्वाज, याज्ञवल्क्य तथा वशिष्ठ प्रभृति महर्षिगण कुटीचक संज्ञा वाले संन्यासी हैं। इनके लिये नित्य आठ ग्रास भोजन करना, योगमार्ग तथा मोक्ष-मार्ग में अग्रसर होना बताया है।

बहूदक संन्यासी वे कहलाते हैं, जो त्रिदण्ड, कमण्डलु, शिखा, यज्ञोपवीत तथा काषाय वस्त्र धारण करते हैं। ब्राह्मणों के तथा ऋषियों के घरों से सुरा और मांस को छोड़कर केवल आठ ग्रास भिक्षा करके खाते हैं और सदा योगमार्ग तथा मोक्ष मार्ग में स्थित रहते हैं।

हंस वे संन्यासी कहलाते हैं जो घूमते रहते हैं। ग्राम में एक रात्रि, नगर में पाँच रात्रि, पुण्य क्षेत्रों में सात रात्रि तक निवास करते हैं, इससे अधिक कहीं निवास नहीं करते। गोमूत्र तथा गोबर का आहार करते हैं। नित्य ही चन्द्रायण व्रत में तत्पर रह कर मोक्ष मार्ग तथा योगमार्ग में स्थित रहते हैं।

अब परमहंस संन्यासियों के सम्बन्ध मे बताते हैं संवर्तक, आरुणि, श्वेतकेतु, जड़भरत, दत्तात्रेय, शुकदेव, वामदेव तथा हारीतक प्रभृति महात्मागण परमहंस संज्ञा वाले ही संन्यासी हैं। ये आठ ग्रास ही नित्य खाते हुए योगमार्ग तथा मोक्षमार्ग में स्थित रहते हैं। ये कहीं अपनी कुटिया बनाकर नहीं रहते। किसी वृक्ष के नीचे ही रह जाते हैं। कोई शून्य गृह देखा तो उसी में पड़ रहते हैं, कभी श्मशान मे ही अड्डा जमा लेते हैं। मिल गया तो कोई कपड़ा लपेट लिया नहीं तो दिगम्बर ही बने विचरते रहते हैं। उन परमहंसों के लिये धर्म-अधर्म, लाभ अलाभ तथा शुद्ध-अशुद्ध का विचार नहीं रहता। द्वैत रहित होते हैं, उनके लिये मिट्टी का ढेला, पत्थर तथा सुवर्ण सभी समान होते हैं, इनमें भेद भाव नहीं देखते। सभी वर्ण वालों के यहाँ भिक्षा कर लेते हैं। वे सदा सर्वदा सभी में केवल आत्मा को ही देखते हैं। अर्थात् उनके मन में किसी भी प्रकार का भेद भाव नहीं रहता। वे अग्नि स्वरूप होते हैं। निर्द्वन्द्व निष्परिग्रही होते हैं। शुक्ल ध्यान में सतत परायण रहते हैं, उनकी सदा

सर्वदा आत्मा में ही निष्ठा होती है। केवल प्राणों को धारण करने के ही निमित्त भोजन का समय होने पर भिक्षा माँगने चले जाते हैं। भिक्षा माँगकर फिर किसी शून्य घर में, देवमन्दिर में, फूँस की झोंपड़ी में, पर्वत पर, दीमक के ढेर स्थान में, किसी वृक्ष के मूल में, कुम्हार के अवा के समीप में. अग्निहोत्र शाला में, नदी के पुलिनों में, पर्वतों की कन्दराओं में, कुहर कोटरों में-वृक्षों के या सर्पों के खोतरों में-जहाँ झरना झरते हों, उन स्थानों में, तथा यज्ञ के लिये जहाँ स्थाण्डिल-चबूतरे बनाये हों वहाँ जाकर पड़ जाते हों, सदा ब्रह्ममार्ग में स्थिर रहते हों, सब प्रकार से योगमार्ग में सम्पन्न, शुद्ध मन वाले परमहंस संन्यासियों के आचरणों द्वारा अपने शरीर का परित्याग करते हैं वे परमहंस संन्यासी कहलाते हैं। इस प्रकार यह परमहंस नाम वाली भिक्षु उपनिषद् समाप्त हुई।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने भिक्षु-उपनिषद् का सार आपको सुना दिया। अब आप आगे महाउपनिषद् का सार श्रवण कीजिये। यह उपनिषद् यथा नाम यथा गुण वाली बड़ी उपनिषद् है। इसलिये इसे एक-एक दो दो अध्याय करके कई भागों में कहूँगा। आप घबड़ा न जायँ।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! उपनिषद् की जैसी दिव्यामृत के सदृश कथा को सुनकर कोई अभागे पुरुष ही घबड़ा जाते होंगे, हमें तो आपका प्रत्येक शब्द अमृत के सदृश सुस्वादु तथा परम मधुर लग रहा है। आप अत्यन्त आनन्द के साथ विस्तार पूर्वक महोपनिषद् को हमें सुनाने की कृपा करें।"

यह सुन परम हर्षित हुए सूतजी कहने लगे—"मुनियो! आपका ही जीवन धन्य है। मनुष्य जन्म का यथार्थ फल तो आप लोगों ने ही प्राप्त किया है, जो सभी ओर से मन हटाकर

भगवत् सम्बन्धी कथाओं में ही अपने चित्त को लगाये हुए हैं। अच्छी बात है, अब आगे मैं महोपनिषद् के सार को ही आप सबसे कहूँगा।"

छप्पय

हंस घूमते रहें दिवस इक, पाँच, सात तक।
ग्राम, नगर क्रम क्षेत्र बसैं तजि जग की झकझक॥
परमहंस सम्वर्त, आरुणी, श्वेतकेतु मुनि।
वामदेव, जड़भरत, हरीतक, शुकदेव, सुन॥
विधि निषेध तें परे जे, गिरि, कानन मरघन बसैं।
धारन करि निज प्रान कूँ, ज्ञान योग करि तनु कसैं॥

इति भिक्षुक-उपनिषद्-सार समाप्त